पहला अध्याय

आँचलिकता की अवधारणा एवं मार्कण्डेय का सर्जनात्मक व्यक्तित्व

पहला अध्याय
आँचलिकता की अवधारणा एवं मार्कण्डेय का सर्जनात्मक व्यक्तित्व

आँचलिकता के परिप्रेक्ष्य में मार्कण्डेय के कथा साहित्य को परखने से पहले सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि पर इस विषय का अध्ययन करना लाजिमी है। अंचल और आँचलिकता की व्याख्या एवं व्युत्पत्ति, आँचलिकता का स्वरूप, आँचलिकता के प्रकार आदि के जरिए आँचलिकता की संकल्पना को स्पष्ट करेंगे।

1. आँचलिकता की अवधारणा

1.1 अंचल और आँचलिकता : अर्थ एवं परिभाषा

भारत विविधता में एकता बनाए रखनेवाला राष्ट्र है। यहाँ की खासियत ऐसी है कि बीच बीच में पानी, प्राकृतिक विशेषताऐं, भाषा आदि सब कुछ में बदलाव दिखाई देता है। इसकी वजह से भारत की प्राकृतिक संरचना खास गुणों के अनेक अंचलों से युक्त है। प्रत्येक अंचल अहम है क्योंकि प्रत्येक भू-भाग की मिट्टी की खास महक होती है। उस मिट्टी से पनपी वनस्पतियों के पत्ते और फूल के विशेष बू होती है। उसके अनुरूप वहाँ के समस्त जीवनधारियों में भी अपनी एक खास मनस्थिति की महक होती है। वह किसी अन्य भू-भाग में उगे फूल-पत्तों और प्राणियों की महक से भिन्न होते हैं। अतः प्रत्येक अँचल की अपनी अलग पहचान और अहमियत होती है।

शब्दकोश के अनुसार अंचल शब्द का अर्थ वस्त्र, साडी का पल्ला या छोर, किनारा, तट, सीमा के समीपवर्ती भू-भाग, जनपद, प्रदेश, देश का प्रांतर भाग है। 'हिन्दी राष्ट्र भाषा कोश' तथा 'लघुतर हिन्दी शब्द सागर' आदि में भी उपर्युक्त अर्थ दिए गए हैं। 'अंचल' शब्द को अंग्रेजी के रिजिनल या 'लोकल' शब्द के पर्यायवाची के रूप में लिया जा सकता है। अतः अंचल का अर्थ वह भू-भाग है जो अपनी भौगोलिक विशेषताओं के कारण अलग दिखाई देता है। साहित्य के संदर्भ में 'अंचल' केवल किसी भूभाग का प्रतिनिधि शब्द नहीं रहा है। वह ऐसे भूखण्ड विशेष का ध्योतक है जिसकी अपनी लोक संस्कृति और लोक परंपरा होता है। वह भू-भाग जिसका प्राकृतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं भाषा की दृष्टि से एक सम्पूर्ण ईकाई होता है। यह अर्थ विस्तार आँचलिक साहित्य के विकास के साथ हुआ है।

अंचल देश का एक खण्ड है। अंचल की जीवन गति, वहाँ का विशिष्ट रूपरंग व प्रकृति से लैस है। इसकी अपनी अलग पहचान और अलग संदर्भ होते हैं। वहाँ के आमोद, उत्सव और त्योहार भी एक होते हैं। डॉ. विवेकी राय के मतानुसार "अंचल वह भू-भाग है और उन में रहनेवाले वे लोग हैं, जो अपने पूरे विश्वासों के साथ, परंपराओं के साथ, अपनी भाषाओं के साथ, अपनी लोक रीतियों के साथ जी रहे हैं या जीने के लिए संघर्ष कर रहे हैं।"[1] अंचल के संबन्ध में डॉ. जवाहर की राय भी काफी समीचीन है - "अंचल किसी देश के भीतर उस

---

1. माटी की महक - जून 1961 - पृ. 35-36

भौगोलिक खण्ड की इकाई की ओर संकेत करता है, जिसकी अपनी एक विशिष्ट संस्कृति हो, अपनी भाषा और अपना विशिष्ट सामाजिक-प्राकृतिक परिवेश हो और अपनी विशिष्ट संस्थाएं तथा लोक परंपराएँ हो"[1] शिवप्रसाद सिंह की दृष्टि में "अंचल उस भौगोलिक खण्ड को कहते हैं जो सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से सुगठित और विशिष्ट एक ऐसी इकाई हो जिसके निवासियों के रहन-सहन, प्रथाएँ, उत्सवादि, आदर्श और आस्थाएँ, मौलिक मान्यताएँ तथा मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ परस्पर समान और दूसरे क्षेत्र के निवासियों से इतनी भिन्न हों कि इनके आधार पर यह क्षेत्र या अंचल विशेष इसी प्रकार के दूसरे क्षेत्रों से एकदम अलग प्रतीत हो।"[2] इन सब बातों के मुताबिक साहित्य की विषय वस्तु के परिप्रेक्ष्य में अंचल शब्द केवल अपने भौगोलिक आयाम को ही नहीं प्रकट करता है बल्कि वह एक ऐसे भूखंड विशेष का वाचक बन जाता है जो सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक दृष्टि से अपने आप में एक इकाई होता है, जिसके जीवन की कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं।

अंचल का निर्माण पूर्ण नियोजित नहीं है। वह अपने आप में बनता है। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक अथवा ऐतिहासिक विचार उसके विस्तार का निर्णय नहीं करते। यह एक स्वाभाविक प्राकृतिक प्रक्रिया के अन्तर्गत अपनी सीमाओं में निश्चित आधार ग्रहण कर एक स्पष्ट इकाई के रूप में लक्षित होता है। अंचल देश के किसी भी गाँव, कस्बा और नगर का भूभाग हो सकता है। जिसकी निजी संस्कृति और भौगोलिक पहचान होना लाजिमी है। आधुनिक सभ्यता ने

---

1. डॉ. जवाहर सिंह - हिन्दी के आँचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि - पृ. 50
2. शिवप्रसाद सिंह - कल्पना मार्च 1965 - पृ. 29

भारतीय संस्कृति की परिभाषा को बदला है। किंतु आज भी आंचलिक खंडों में भारत का असली रूप मिलेगा। उनमें आज भी अंध परंपराएँ और अंधविश्वास जीवित हैं। उनकी आर्थिक व्यवस्था एवं जीवन शैली पर मध्यकालीन युग के विश्वासों की छाप बहुत गहरी है। देश की सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था की मूल प्रकृति के रूप में अंचल को देख सकता है।

अंचल के गुणों के आधार पर 'आंचलिक' शब्द बना है जिसका अर्थ 'जनपद या क्षेत्र विशेष से जुडा' है। हिन्दी साहित्य जगत में 'आँचलिक' शब्द का प्रवेश फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आंचल' के साथ हुआ है। 'मैला आँचल' की भूमिका में लेखक ने प्रस्तुत उपन्यास को आँचलिक उपन्यास घोषित करते हुए लिखा है - "यह है 'मैला-आँचल' एक आँचलिक उपन्यास।" अंचल, आँचलिक, आँचलिकता ये तीनों शब्द मूल रूप में एक ही भाव से जुडे हुए हैं। आँचलिकता एक भाववाचक संज्ञा है। स्पष्टतः इसका सम्बन्ध 'अंचल' सम्बन्धी भावों, गुणों, दोषों आदि से हैं। आँचलिक विशेषताओं की अभिव्यक्ति ही आँचलिकता है। आँचलिकता का मतलब अंचल विशेष के जन-जीवन एवं जनसंस्कृति को प्राकृतिक पार्श्वभूमि में दर्ज करने की साहित्य की एक प्रवृत्ति है। आँचलिकता के संबन्ध में अनेक विद्वानों ने अपने मत प्रकट किए हैं। मधुकर गंगाधर के अनुसार "आँचलिकता का अर्थ है क्षेत्र-विशेष के सत्य का उद्‌घाटन करता हुआ जीवन, जो किसी एक परिवेश नहीं वरन् उस खण्ड की समग्र क्षेत्रियता का प्रतीक है। अंचल के भौगोलिक या सामाजिक या सांस्कृतिक सीमाबद्ध खास क्षेत्र के सामान्य जीवन सत्यों का अन्तर या एकरूपता का निर्देशन, देश-काल, जाति, धर्म, भौगोलिक स्थिति,

आर्थिक - सामाजिक प्रणाली, रीति-नीति के मनोवैज्ञानिक रहस्य के बीच स्थापित क्षेत्रीय जीवन आदि की स्वीकृति आंचलिकता को व्यक्त करती है।"[1] आँचलिकता के संदर्भ में ज्ञानचन्द्र गुप्त के शब्द कुछ इस प्रकार है कि "आँचलिकता नये-नये अंचलों के जीवन को जानने को उत्सुक, अपरिचित भूमियों को कौतुहलपूर्वक उजागर करने को लालायित, रुगण या पिछडे सामाजिक जीवन को स्वस्थ जीवन बनाने की आकांक्षी, सांस्कृतिक चेतना को खोजने की अभिलाषी, व्यक्तिवादी साहित्यिक अवधारणा के खिलाफ प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोणवाली, नयी भाषिक संरचना के जरिये अंचल को पहचानने और रचनेवाली साहित्यिक दृष्टि है।"[2] डॉ. शिवप्रसाद सिंह आंचलिकता की प्रवृत्ति को स्वातंत्र्योत्तर हिन्दुस्तान की एक सांस्कृतिक प्रवृत्ति मानते हैं। "आँचलिकता की प्रवृत्ति निश्चय ही हमारी सांस्कृतिक धरोहर है। हमारे देश के विभिन्न अंचल हमारी संस्कृति के प्रतीक है, जिन्हें ये अपनी समग्रता में उतारती है। जिसके भीतर भारतीयता को अन्वेषित करने की सूक्ष्म अन्तर्धारा काम कर रही थी।"[3] विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के मतानुसार "आँचलिकता एक प्रवृत्ति है, जिसमें लेखक अपनी कृति को एक अंचल विशेष की आधारभूमि पर निर्मित करता है तथा वहाँ के निवासियों के जीवन और उनकी प्रगति को विस्तार के साथ चित्रित करता है। यह किसी एक व्यक्ति या परिवार की कहानी न होकर वर्ण्य अंचल के समग्र जीवन की कहानी होती है।"[4] डेनियल हाफमैन ने

---

1. आलोचना 1966 : मधुकर गंगाधर - पृ. 65
2. संपा. रामदरश मिश्र और ज्ञानचन्द्र गुप्त - हिन्दी के आंचलिक उपन्यास - पृ. 48
3. डॉ. शिवप्रसाद सिंह - आधुनिक परिवेश और नवलेखन - पृ. 115
4. सं. रामदरश मिश्र - हिन्दी के आंचलिक उपन्यास - पृ. 23

आंचलिकता के परिवर्तित होते हुए रूप की बात भी स्वीकार की है। इस कारण से उनके राय में "आँचलिकता की कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकती। ये रूप युग युग में, देश-देश में और प्रदेश-प्रदेश में परिवर्तित होते रहते हैं। सामाजिक, भौगोलिक या भाषा-संबन्धी कोई भी मानदण्ड साहित्य की प्रादेशिकता को पूर्णता से परिभाषित नहीं कर सकते क्योंकि निरीक्षण करने पर यह लेखक की चुने हुए प्रदेश की विषयगत संयोजना ही सिद्ध होते हैं।"[1] 'हिन्दी साहित्य कोश' में आंचलिकता को इस प्रकार दर्ज किया गया है - "आँचलिकता की सिद्धि के लिए स्थानीय दृश्य, प्रकृति, जलवायु, त्योहार, लोकगीत, बातचीत का विशिष्ट ढंग, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, भाषा व उच्चारण की विकृतियाँ, लोगों की स्वभावगत व व्यवहारगत विशेषताएँ, उनका अपना रोमांस, नैतिक मान्यताएँ आदि का समावेश बडी सतर्कता और सावधानी से किया जाना अपेक्षित है।"[2]

दरअसल आँचलिकता, साहित्य की एक ऐसी प्रवृत्ति है जिसमें किसी अंचल विशेष के संपूर्ण वातावरण का संश्लिष्ट दस्तावेज़ स्थानीय खासियत के साथ दर्ज किया जाता है। इस में बाह्य यथार्थ की विवरणात्मकता और आंतरिक

---

1. "The term 'regionalism' itself has had no stable definition, and the definition of regional literature accordingly varies from decade to decade, from country to country, even from region to region. Neither sociological, geographical, nor linguistic criteria can define literary regionalism with exactitude, for it proves on examination to be the subjective identification made by an author to his chosen locality."
   The Encyclopedia Americana - Vol. XVII - P. 572
2. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा - हिन्दी साहित्य कोश (भाग 1) - पृ. 74

यथार्थ का विश्लेषण दोनों समान रूप से विद्यमान हैं। यह अवाम की जिन्दगी से जुडा एक चेतना संस्कार है। इसमें अनुभूती परक गहनता, समाज सापेक्ष दृष्टि और यथार्थ परिवेश की सृष्टि दिखाई देती है। आँचलिकता की प्रवृत्ति निश्चय ही अपने समूचे सोच में आधुनिक है जो पिछडे अंचलों की विभिन्न समस्याओं को उठाकर उनके समाधान की बात करती है।

1.2 ग्रामांचल का स्वरूप एवं स्वातंत्र्योत्तर नवीन ग्रामांचलिक परिवेश

साहित्यकार कभी अपने परिवेश को नहीं नकार सकता, क्योंकि जिस परिवेश में वह जी रहा है वही उसकी सर्जना का प्रेरक होता है। वह उस परिवेश से विषय चुनता है और उन्हीं पर अपनी कला के जरिए साहित्य का सृजन करता है। मार्कण्डेय भी इस से अलग नहीं है। उनकी साहित्यिक शख्सियत ग्रामांचल से लैस है। स्वातंत्र्योत्तर नवीन ग्रामांचलिक परिवेश उन्हें हूबहू प्रभावित किया है।

1.2.1 ग्रामांचल का स्वरूप

भारत ग्रामांचलों का देश है। देश के अस्सी प्रतिशत लोग गाँव में रहते हैं। यहाँ की कृषि व्यवस्था, संस्कृति और सभ्यता के केन्द्र में ग्राम ही रहा है। इसलिए भारत की किसी भी परिस्थिति के अध्ययन के लिए ग्रामों की जानकारी लाजिमी है।

जिस स्थान पर एक पारिवारिक समूह प्रकृति से लैस निवास करते हैं उस जगह को ग्राम माना गया है। ग्रामांचल हरे भरे खेत, लिपे-पुते घर, उनसे उठता हुआ धुआँ, छोटे मंदिर, भटकते कुत्ते, गेहूँ और ईख के खेत, नलकूप, ऊबड-

खाबड गलियाँ, पालतू पशु, किसान, मज़दूर, हल और चक्की से उठती धुन, पर्व त्योहरों की रौनक, मिट्टी की गंध आदि से बनता है। नैसर्गिकता के कारण सदियों से निर्मित जीवन प्रणाली ग्रामांचल में अपने मूल खासियत के साथ विध्यमान है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी कहते हैं कि "यदि यह कह जाय कि हमारे ग्राम का हमारी राष्ट्रीयता और हमारी सांस्कृतिक शक्ति से अटूट संबन्ध हैं तो इसमें अतिशयोक्ति न होगी। यहाँ मेरा आशय आज के भारतीय ग्रामों की गरीबी, अशिक्षा और राजनीतिक तथा सामाजिक अज्ञान और अस्तव्यस्तता पर डालने का नहीं पर उन समस्त विकृतियों के बावजूद अब भी ग्रामों में कुछ है, जिसे हम अपना सर्वोत्तम अंश कह सकते हैं।"[1] दरअसल गाँव देश की आत्मा है।

खेती, पशुपालन और हस्त उद्योग आदि की सुविधाओं के अंतर्गत नदी के किनारे, समतल मैदानों में सर्वत्र खेती और बगीचों के बीच मिट्टी के मकानों के समूह के रूप में गाँव होता है। गाँवों का रास्ता खेतों की मेडों से गुजरता है। गाँवों में आबादी कम होती है। ग्रामवासियों का मुख्य धंधा खेती होता है। खेती पर ध्यान रखने के लिए उसके पास ही मकान बनाकर रहते हैं।

गाँव में जाति व्यवस्था काफी सशक्त है। जाति और वर्ण के अनुसार गाँव की रचना होती है। मुखिया, ग्रामपुरोहित, जमींदार आदि का स्थान गांव में श्रेष्ठ रहा है तथा सुनार, लुहार, कुम्हार, धोबी, चमार आदि शूद्र माने गये हैं। दुकानदारी

---

1. सं. डॉ. अनिलकुमार आंजनिय - सृजन जारी है - पृ. 84

और साहुकारी करनेवाले वैश्य कहलाते हैं। "हर जाति और समुदाय के मकान अपने दर्जे के अनुसार नियत स्थान पर होते हैं। एक ही जाती के सदस्य पास-पास रहते हैं। पीढ़ी दर पीढ़ी एक व्यवस्था और एक ही स्थान पर रहने से गाँव में अपने परिवेश के प्रति अधिक आकर्षण और स्नेह रहता है।"[1]

गाँवों में किसानों की संख्या अधिक होती है। जीवन की शांति, सुंदरता और सरलता उसके लिए मूल्यवान होती है। प्रकृति से जुडे रहने का कारण उसका मन खुला रहता है। किसान का भाग्य बारिश पर निर्भर होता है। अकाल और सूखे से बचने के लिए ग्राम देवता को चढ़ाव चढ़ाया जाता है। बाढ़, सूखा आदि से जब फसल बचती है तब एक हिस्सा देवताओं को समर्पित करता है। जिनके पास जमीन नहीं है वे दूसरों की खेती पर काम करने जाते हैं। इन्हें हमेशा के लिए काम मिलता ही नहीं, ऊपर से भूख, शोषण, साहूकारी तथा जमींदारों के अत्याचार सहना पड़ता है। ज्यादातर किसानों की जिन्दगी ऋण में डूबी होती है। किसानों में कोई भी ऐसा न होगा जिसे पशुओं के प्रति प्रेम न हो। कुत्ता, बकरी, गाय, बैल मुर्गा, भैंस, बिल्ली आदि पालतू जानवरों का ग्राम जीवन से निकट संबन्ध है। किसान चुपचाप जीवन नहीं जी पाता। वह दूसरों के फेरे में पड़कर हलचलों का पता लगाता है और सभी बातों को जानने की कोशिश करता है।

गाँव में औरत अपने पति को खेती-भारी में मदद करती है। गृहस्थी संभालना और रोटी-पानी की व्यवस्था करना, बच्चों की परवरिश आदि औरतों

---

1. डॉ. वसंत सूर्वे - आपातकालोत्तर हिन्दी ग्रामांचलिक उपन्यासों की मीमांसा - पृ. 26

को ही संभालनी पड़ती है। ग्रामीण औरत चुल्हे के लिए उपलें बनाती है। औरतें नदी या कुओं के पनघटों में बातचीत करती है और खबरों का आंबटन होता है। पर्व-त्योहारों के अवसरों पर लोकनृत्य और लोकगीत गाती हैं। पति, सास, ननद आदि की मार-पीट और गाली को सहना, अपमान को बरदाश्त करना उनका नसीब बन गया है।

गाँवों में पंचों को परमेश्वर माना जाता है। उनके सामने झूठ नहीं बोला जाता। शाम के समय पेडों के नीचे, किसी चबूतरे पर या सर्वमान्य जगहों में लोग इकट्ठे होते हैं। पारिवारिक या सामाजिक समस्या एवं झगडे मिटाने के लिए पंचायत बुलाई जाती है। पंच का निर्णय सर्वमान्य होता है। निर्णय न मानने पर जात-बिरादरी से बाहर होने की नौबत आती है।

सामाजिक रस्म-रिवाज़, रूढ़ि, और परंपरा का पालन गाँव में होता है। ईश्वर पर भरोसा किया जाता है। इसलिए पाप-पुण्य की ओर दुष्टि लगी रहती है। भूखे को खिलाना, भिखमंगे, साधु-निस्सहाय की सहायता करना और धार्मिक कार्यों की मुक्त हस्त से मदद करना ग्रामीणों की खासियत है। स्वयं भूखे रहने पर भी अतिथि को खिलाने में वे सुख महसूस करते हैं। शुद्धता, पवित्रता, सदाचार, व्रत, अपवास, तीर्थस्नान, पूजा और आराधना, शकुन आदि में उनकी गहन आस्था रहती है। जाती-वर्ण का वर्चस्व, शिक्षा के प्रति अनाकर्षण, विद्यालय में अध्यापकों तथा कमरों की कमी आदि से ग्रामीण आदमी गँवार, अनपढ़ और अर्धशिक्षित रहते आए हैं जिससे गाँव में अन्धविश्वास, दुराचार तथा अस्वच्छता बनी रहीं। घर की

जूठन, बच्चों का पाखाना, जानवरों का गोबर, कीचड़ से भरे रास्ते आदि से गाँव का माहौल बदबूदार रहता है। गाँव में शिक्षा, विकास तथा स्वास्थ जीवन अमीरों तक ही सीमित है।

यों सामंतीवादी ग्राम व्यवस्था कृषिकेंद्रित, प्रकृतिसन्मुख और आत्मनिर्भर होती है। गाँव की सामाजिक व्यवस्था का आधार जाति, धर्म और वर्ण व्यवस्था रही है। गाँव में अपनत्व, सद्भावना और सगापन भरा रहता है। फिर भी अंधविश्वास, अज्ञान और अंधरूढियों तथा गंदगी से गाँव निर्भर हैं।

1.2.2 स्वातंत्र्योत्तर नवीन ग्रामांचलिक परिवेश

स्वतंत्रता प्राप्ति किसी भी देश के लिए महज एक घटना नहीं होती। यह उस देश के लोगों की अदम्य मुक्ति-कामना, संघर्ष और सामूहिक चेतना का प्रतिफल होता है। स्वतंत्रता के पीछे एक लंबे संघर्ष का इतिहास रहता है। यह संघर्ष उस देश की मानसिकता और जीवन परिस्थिति को एक नया अर्थ और आयाम देता है।

भारत के संदर्भ में स्वातंत्र्योत्तर शब्द का प्रयोग उस समयावधि के लिए किया गया है जो सन् 1947 के बाद की है। भारत का दुर्भाग्य रहा कि देश पर कई विदेशी जातियों ने आक्रमण किये और हमें उनकी दासता में रहना पड़ा। अंग्रेज़ ऐसी ही एक जाति थी जो व्यापार करने के बहाने आयी और अपना साम्राज्य स्थापित करने में सफल हुई। देश बरसों तक उनकी दासता में दबता रहा। समय समय पर देशभक्तों ने दासता से मुक्ति पाने का प्रयत्न किया। आखिरकार 15

अगस्त 1947 को महात्मागाँधी के नेतृत्व में भारत अंग्रेज़ी दासता से आज़ाद हुए। डॉ. विवेकी राय के शब्दों में "निस्संदेह शताब्दियों के दासत्व तमस को फोडकर उगे स्वातंत्र्य रवि 'देश के वैचारिक पुनर्जन्म' के रूप में भारतीय जनजीवन की एक महतर उपलब्धि रहा है और स्वप्न-स्वरों की गूँज-अनगूँज संलग्न रही।"[1] स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में नयी चेतना का आना स्वाभाविक था। उसने ग्रामांचलिक जीवन को भी आंदोलित किया। स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण परिस्थितियों में जितनी तेजी से बहुमुखी परिवर्तन हुए हैं, उतने देश के इतिहास में पहले कभी नहीं हुए।

1.2.2.1 राजनीतिक परिवेश

15 अगस्त 1947 को केन्द्रिय शासन व्यवस्था भारतीयों के हाथ में आयी। 26 जनवरी 1950 को गणतंत्र राष्ट्र घोषित करके समुचित विकास के लिए देशवासियों को समानाधिकार प्रदान किए। 1952 में वयस्क मताधिकार के आधार पर पहला आम चुनाव हुआ। स्वतंत्र भारत के नवीन लोकतंत्रात्मक संविधान ने ग्राम जीवन में नयी चेतना लाने में अहम भूमिका निभाई है। उसने मौलिक अधिकारों, नीति निर्देशक तत्वों एवं धर्म निरपेक्ष स्वरूप की ओर ग्रामवासियों का ध्यान आकृष्ट किया। सदियों से पीडित ग्रामीण जनता मुखिया एवं सरकारी अधिकारियों को ही शासन तंत्र समझती थी। राजनीतिक बोध, वयस्क मताधिकार बोध आदि की वजह से परिस्थितियाँ बदलने लगीं।

---

1. डॉ. विवेकी राय - स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम जीवन - पृ. 88

स्वतंत्रता और गणतंत्र की घोषणा के बाद जो राजनीतिक परिवेश उभर कर आया है, वह राष्ट्रिय नेताओं की उद्घोषणाओं और अवाम की संभावनाओं के एकदम विरुद्ध है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व देशवासी सोचते थे कि स्वतन्त्रता मिलने पर बुरे दिन खत्म हो जाएँगे और विभिन्न प्रकार की मुश्किलों से मुक्ति मिल जायेगी। लेकिन स्वातंत्र्योत्तर कठिनाइयाँ घटने की अपेक्षा बढ़ गयीं। पुराने ज़मींदार नेता बन गए। गाँव राजनीति के केन्द्र बन गए। "आज़ादी के बाद गाँववालों ने खासकर गाँधीजी के रामराज्य साकार होने की परिकल्पना की थी। सपने बुने थे। लेकिन आज़ादी जैसे-जैसे बचपन की अवस्था लाँघती गई और 15-16 वर्ष की किशोरी से युवती होती गई। यह अपने आप में बदचलन और स्वार्थी होती गई। उसने अपने रिश्ता आम आदमी से काटकर सिर्फ बडे छदमवेशी जन-नेताओं, पूँजीपतियों, भूस्वामियों, नौकरशाहों के साथ अपना गठबंधन कर लिया।"[1] इस तरह आज़ादी के बाद राजनीति में सेवा और समर्पण के स्थान पर भ्रष्टाचार और मतलबपरस्ती ही नज़र आने लगीं।

इस दौरान विभिन्न राजनीतिक दलों की निर्मिति हुई। राजनीति में ज़मींदार एवं पूँजीपतियों का प्रभाव बढ़ता गया। राजनीति, नेताओं की स्वार्थपरता, अवसरवादिता और पदलोलुपता का साम्राज्य बन गयी। राजनीतिक क्षेत्र में पैसा, लाठी, दबाव आदि का कुप्रभाव बढ़ता गया। पुलिस पदाधिकारी, शासन के कार्यकर्ता आदि अपने दायित्व निभाने में गैर जिम्मेदार ठहरे। सरकारी विकास योजनाएँ अवाम तक नहीं पहुँचीं। मुनाफाखोरी, घूसखोरी और कालाबाजार बढता गया। चुनाव प्रक्रिया

---

1. डॉ. जितेन्द्र - साठोत्तरी हिन्दी कहानी और राजनीतिक चेतना - पृ. 49

नए द्वन्द्वों एवं संघर्ष की भूमिका निभाने लगी। वोट की राजनीति तथा चुनाव तंत्र के कारण गाँववालों के मन में एक दूसरे के पार्टी के लोगों के प्रति ईर्ष्या पैदा हुई, जिससे गाँव के सम्बन्धों में भी दरार आ गयी। गाँव की एकता दुश्मनी में तब्दील हो गई।

1.2.2.2 आर्थिक परिवेश

आज़ादी के पहले ग्रामजीवन आर्थिक दृष्टि से अनेक विषमताओं और असंगतियों से ग्रस्त था। उत्पादन पर ज़मींदार और साहूकारों का ही अधिकार रहा था। गाँव की आम जनता, महाजन, जमींदार और उनके कारिन्दे के शोषण से पीडित थीं। स्वातंत्र्योत्तर भारत सरकार ने ग्राम जीवन के उत्थान को आवश्यक समझा। गाँव के उत्थान में उन्हें देश का उत्थान महसूस हुआ। सरकार ने देश के विकास के लिए आर्थिक नियोजन का मार्ग अपनाया। सन् 1950 में योजना आयोग की स्थापना की गई। 1952 में प्रथम पंचवर्षीय योजना की शुरुआत हुई थी। पंचवर्षीय योजनाओं के जरिए ग्राम विकास के बहुमुखी कार्यों में जुट गए। पशुपालन, कुटीर उद्योग, कृषि की नयी वैज्ञानिक प्रविधियाँ, नयी खाद और नए बीज उपलब्ध कराया गया। नहर योजना, पम्पिंग सैट आदि के जरिए सिंचाई के प्रबंध भी किए गए। ज़मींदारी उन्मूलन, भूदान पद्धति जैसी सरकारी नीति से देशी धनियों का उत्पादन साधनों पर नियंत्रण कम हुआ। इन सब प्रयासों से ग्राम जीवन की आर्थिक दशा सुधरने लगी। फिर भी पूर्णतः संतोषजनक नहीं कहा जा सकता था क्योंकि भ्रष्ट राजनीति के चंगुल में पड़कर ये योजनाएँ पूर्ण रूप से सफल नहीं

हो सकी थीं। आर्थिक विषमता के कारण लोग नौकरी की तलाश में नगर की ओर जाने लगे। गाँव टूटकर कस्बों और नगरों में समाने लगे।

1.2.2.3 सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश

स्वातंत्र्योत्तर गांव के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन पर यहाँ के राजनीतिक तथा आर्थिक परिवेश का गहरा प्रभाव पड़ा है। स्वतंत्रता से पहले जिन्हें आदर्श लोकनेता मानकर पूजा कर रहे थे वे बाद में दुराचारी और घुसखोर बन गए। देशवासियों की आशा निराशा में तबदील हो गई। हम अपने ही यहाँ पराये हो गए।

ग्रामीण जीवन को शोषण एवं दमन से छुटकारा दिलाने के लिए ज़मींदारी उन्मूलन लाजिमी था। भारतीय कृषि एवं भूमि व्यवस्था के पुनरुद्धार की दृष्टि से भी यह बडा उपयोगी सिद्ध हुआ। सामंतवादी व्यवस्था का विघटन हुआ। कृषक अपने अधिकारों के लिए ज़मींदारों के सामने खडे होने लगे। उसे अमानवीय अत्याचारों एवं शोषण से मुक्त कराने में ज़मींदारी उन्मूलन की भूमिका सराहनीय रही थी। निस्संदेह पंचवर्षीय योजनाओं ने ग्राम चेतना को पर्याप्त प्रोत्साहन एवं शक्ति दी। लेकिन ग्रामीण लोगों की दशा में अपेक्षित सुधार न हो सका। उनकी दरिद्रता और निर्धनता में पर्याप्त परिवर्तन नहीं आया था। निर्धनता ग्रामीण जनता के स्वास्थ और शक्ती को गिरा दिया। आर्थिक कशमकशम में किसान अपने असंतोष व्यक्त करते हुये आंदोलनों में जुड़ गए।

संविधान में शिक्षा को मौलिक अधिकार माना गया था। देश के शिक्षा के ढाँचे में आमूल परिवर्तन के लिए शिक्षा मंत्रालय ने विभिन्न योजनाएँ बनाईं। उन में श्रमिकों के वास्ते रात्रि पाठशालाओं का भी आयोजन किया गया। इन सब प्रयत्नों तथा परिस्थितियों ने ग्राम जीवन को नई दिशा दी। उसमें अधिकार बोध एवं प्रगति की भावना का विस्तार हुआ। नयी पीढी में तो विद्रोह की भावना फूट पड़ी। वह अपने अधिकारों के लिए संघर्षरत होने लगी। फलतः ग्राम जीवन के परंपरागत सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों और नवीन मूल्यों में संघर्ष होने लगा। नयी पीढ़ी को परंपरागत सामाजिक व्यवस्था निरर्थक प्रतीत होने लगी थी। समाज में बाल विवाह का विरोध, विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह तथा प्रेमविवाह का समर्थन होने लगा। काम की तलाश में नगर जाने के कारण गाँवों में धीरे-से नगर संस्कृति का प्रभाव भी पडने लगा था। इसके साथ परंपरागत धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों में संक्रमण हुआ। भारतीय संस्कृति परंपराओं पर निर्भर थी। लेकिन ये परंपराएँ टूटने लगी थीं। भारतीय संस्कृति आधुनिकता के रंग में रंगाती जा रही थी। उसमें बौद्धिकता का समावेश होता जा रहा था। ग्राम जीवन में सम्मिलित परिवारों का स्थान स्वतंत्र इकाइयों में तब्दिल होने लगा था। रिश्ते-नाते भी नया रूप ले रहा था। इस काल में ग्रामीण जनता में अजीब असंतोष, अविश्वास, बौद्धिक तथा वैचारिक संघर्ष और मानसिक कशमकश पायी गयी थी।

सत्ताधीशों के स्वार्थ, भ्रष्टाचार और नीति मूल्यों का अवमूल्यन होने से आज भी भारतीय ग्रामीण समाज अभाव, दरिद्रता और परेशानियों का सामना कर रहा है। गाँव के अवाम रोटी, कपड़ा, मकान आदि समस्याओं से जूँझ रहे हैं।

स्वतंत्रता पूर्व विदेशियों ने भारत में लूट-खसोट मचाई थी, तो स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीतिक नेता, पूँजीपतियों, सरकारी कर्मचारियों ने ही जनता को लूटने में कोई कसर नहीं छोड़ी। आजादी इन सुविधा भोगियों के लिए सच्ची थी पर अवाम के लिए निहायत झूठी और नकली रह गयी।

प्रत्येक युग का साहित्य उस समय की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिवेश से लैस है। पचास के बाद लिखे गए आंचलिक साहित्य इस स्वातंत्र्योत्तर नवीन ग्रामीण परिवेश की उपज है।

2. आंचलिक साहित्य : एक समग्र परिदृश्य

2.1 आंचलिक साहित्य की शुरुआत

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले अंग्रेजों के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन को जगाना और गतिशील रखना ही साहित्य का प्रमुख उद्देश्य था। लेकिन स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में देश-प्रेम की भावना जनविकास की दिशा में उन्मुख हो गई। सहृदय लेखक पिछडे जनजीवन की ओर लौटने लगे। उनकी नज़र अवाम की जिन्दगी की ओर गई। सदियों से शोषित और उपेक्षित जीवन जर्जर विश्वासों का पुलिन्दा बन गया था। शोषण और उत्पीडन से ऊपर उठाकर इन अवामों के अस्तित्व को उभारने की ज़रूरत उन्हें महसूस हुई। आंचलिक साहित्य के उद्‌गम और विकास में स्वातंत्र्योत्तर नवीन परिस्थिति एक ठोस धरातल बनी है।

साहित्य में कोई भी प्रवृत्ति अचानक जन्म नहीं लेती। उसकी प्रेरणा-बीज पहले ही कहीं परम्परा में विद्यमान रहता है। आंचलिक साहित्य की जड़ भी परम्परा

से जुडी हैं। प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना स्वतंत्रता के दस साल पहले नवंबर 1935 में लंदन में हो चुकी थी। इसकी भारत शाखा का प्रथम सम्मेलन लखनौ में अप्रैल 1936 में प्रेमचन्द के सभापतित्व में हुई। इसमें यशपाल, सुमित्रानन्दन पंत जैसे अनेक बुद्धिजीवियों ने भाग लिया। प्रगतिशील लेखकों का यह मत था कि भारतीय समाज में बुनियादी परिवर्तन हो रहे हैं लेकिन साहित्य पिछडा हुआ है। उनका विचार था कि 'साहित्य पलायनवाद का शिकार हो गया है', जीवन सत्य को झुठलाया जा रहा है। साहित्य रूप-सौष्ठव पर अधिक ध्यान देने लगा है और जीवन की समस्याओं से विमुख हो रहा है। इसलिए प्रगतिशील लेखकों ने यह आवश्यक एवं उचित समझा कि वे ऐसे साहित्य की रचना के लिए कटिबद्ध हो जिनमें जीवन की बुनियादी समस्याओं जैसे भूख, गरीबी, सामाजिक अधःपतन, विदेशी शासन, निष्क्रियता, अंधविश्वास, जातिवाद, सांप्रदायिकता तथा जनता की निस्सहायता अहम हों।

महात्मा गाँधी के राष्ट्रीय आंदोलनों और जवहरलाल नेहरु के समाजवादी विचारों ने आँचलिक साहित्य को पहले से ही अनुकूल एवं उर्वर भूमि तैयार कर दी थी। 1935 में इंदौर में आयोजित हिंदी साहित्य-सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन के अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए महात्मा गाँधी ने लेखकों का ध्यान गाँवों की ओर आकर्षित किया था। इस प्रकार 1936 तक आते हिन्दी लेखकों का ध्यान आदर्शवाद से छूटकर यथार्थवाद और देश के अवाम की जिन्दगी की ओर गया। उन्होंने अपनी लेखनी द्वारा समता पर आधारित सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया। सामाजिक इनसाफ के लिए साहित्य को

अपने संघर्ष का मंच बनाया। इन सबके प्रभाव से हिन्दी कथा साहित्य के दीपस्तंभ प्रेमचंद ने अपना रुख आदर्शनमुखी यथार्थवाद से यथार्थवाद की ओर तब्दील कर दिया।

1943 के उपरांत अज्ञेय के नेतृत्व में प्रयोगवाद का सूत्रपात हुआ था। जिस पर पश्चिम के आधुनिक (Modernist) आंदोलन का प्रभाव गहरा पड़ा था। इन आधुनिकतावादी लेखकों के हाथों में साहित्य यथार्थ से अलग हटकर बौद्धिक सूक्ष्मताओं पर ध्यान देने लगा था। इस बौद्धिकता ने लेखकों को बहुत कुछ जीवन-सत्य से दूर कर दिया था। साहित्य ने उन नेताओं और देश प्रेमियों का भी तिरस्कार किया जो साम्राज्यवादी अंग्रेजों की जेलों में सड़ रहे थे। वैचारिक बोध तथा बिंबों में उलझ कर वे भारतीय धरती और समाज से कटते गये। इसके बाद 'सूक्ष्म बौद्धिकता को चुनौती देने के लिए प्रगतिवादियों ने अनुभव की प्रामाणिकता पर बल देने लगे। इस प्रकार ठोस, निश्चित यथार्थ एवं प्रामाणिक जीवन सत्य की ओर लेखकों का ध्यान जाने लगा और लेखक कल्पना और बौद्धिकता की अपेक्षा अपने चतुर्दिक विस्तृत जीवन सत्य की ओर मुडे। ऐसे ऐन मौके पर ही भारत को स्वतंत्रता मिली थी।

जैसे पहले सूचित किया स्वातंत्र्योत्तर गणतंत्र राष्ट्र की स्थापना हुई। आगे विभिन्न भाषा-भाषी समाज व भाषाओं के आधार पर प्रांतों के निर्माण की मांग करने लगे और कुछ प्रांतों का निर्माण भी हुआ। मातृभाषा और प्रादेशिक भाषा की उपयोगिता और अहमियत पर बल दिया जाने लगा। इस प्रकार प्रादेशिक भाषाओं एवं प्रादेशिक देशभक्ति के विकास के साथ ही बोलियों और बोलियों के छोटे-छोटे

क्षेत्रों की महत्ता भी बढ़ने लगी। इस नज़र से आँचलिक साहित्य की रचना में नवीन स्वातंत्र्योत्तर परिवेश की भूमिका अहम है। एक बार फिर लेखक अपने निकट के उपेक्षित ग्राम समाज को और गरीबी से पीडित वर्गों को अपने साहित्य में स्थान देने लगे। साहित्य में अनुभव की प्रामाणिकता की माँग भी यहाँ पूरी हो गयी। कल्पना के आधार पर जीवन के अनेक पक्षों पर कथा लिखने की परंपरा अधिक रूढ हो चली थी जो सत्यांकन में असफल होती जा रही थी। जीवन सत्यों को विश्वसनीय बनाने के लिए लेखक अपने निकटवर्ती एक निश्चित गाँव, मुहल्ला या जाति का चित्रण करने लगा। इन लेखकों का मुख्य उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन नहीं बल्कि पीडित समाज के प्रति सहानुभूति प्रकट करना था। लेखक उन्हें अपनी परिस्थितियों के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उभारना चाहता था। स्वातंत्र्योत्तर 'रामराज' की संकल्पना में रहे लोगों को नवीन राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के कारण निराश होना पड़ा था। उनकी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, बल्कि ऊपर से नई समस्याओं का सामना भी करना पड़ा। इस हालत में लेखक सार्वभौमिक स्थिति के रूप में अपने विशिष्ट स्थान की समस्या को दर्ज नहीं करना चाहता था। वह स्थितियों को विशिष्टीकृत तथा विश्वसनीय करना चाहता था। एक निश्चित भू-भाग को समस्त परिस्थितियों के साथ दर्ज करना चाहता था।

हिंदी में आंचलिक साहित्य के उद्घाटन के पीछे अंग्रेजी और बंगला साहित्य की प्रेरणा भी है। यह तो हिन्दी लेखक के लिए कोई नयी बात नहीं है। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के शुरू से ही यह बात चली आ रही है। इसके साथ भारतीय आंचलिक साहित्य को पाश्चात्य साहित्य का महज अनुकरण कहना

भी संगत नहीं लगता। डॉ. शिवप्रसाद सिंह आंचलिक कथा साहित्य को स्वातंत्र्योत्तर भारतीय परिस्थिति की उपज मानते हैं। उनके अनुसार "निसंदेह यह एक सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रवृत्ति का परिणाम है। स्वतंत्रता के बाद के एक निजी आत्मान्वेषण की भावना ही इस प्रवृत्ति में निहित है। साथ ही आज़ादी की लड़ाई के अवसर पर महात्मा गाँधीजी ने 'गाँव की ओर लौटो' आंदोलन शुरु किया था, जिस से हिन्दी साहित्य में आँचलिकता की प्रवृत्ति को प्रेरणा मिली होगी। अतः हम समझ सकते हैं कि आंचलिकता की प्रवृत्ति स्वातंत्र्योत्तर हिन्दुस्थान की एक सांस्कृतिक प्रवृत्ति थी। जिस के भीतर भारतीयता को अन्वेषित करने की सूक्ष्म अन्तर्धारा कार्य कर रही थी।"[1] हिन्दी आंचलिक साहित्य पश्चिमी साहित्य से प्रभावित ज़रूर है; लेकिन इसका उद्‌गाम स्त्रोत पूर्णतः देश की मिट्‌टी से जुडा है।

हिन्दी के ज्यादातर आलोचकों का मत यह है कि आँचलिक साहित्य स्वातंत्र्योत्तर नवीन परिस्थितियों की देन है। इस तथ्य का समर्थन करते हुए राजेन्द्र अवस्थी ने यों लिखा है - "स्वाधीनता के बाद जनता और विद्वानों का ध्यान जनपदों की ओर गया, जो अभी तक एकदम उपेक्षित थे। जनपदीय बोलियों, मुहावरों और लोकगीतों के संकलन का काम एक आन्दोलन की तरह आरंभ हुआ। स्वाधीनता के साथ ही यत्र-तत्र इन विषयों पर लगातार रचनाएँ छपने लगीं।"[2] भगवती प्रसाद शुक्ल भी इस से सहमत है - "आँचलिकता का उद्‌भव स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त घोषित गणतंत्रात्मक आस्था से संबद्ध है।"[3] इस प्रकार

---

1. कल्पना 1965 मार्च
2. राजेन्द्र अवस्थी - श्रेष्ठ आंचलिक कहानियाँ (भूमिका) - पृ. 2
3. डॉ. भगवती प्रसाद गुप्त - आँचलिकता से आधुनिकता बोध - पृ. 130

हिन्दी आँचलिक साहित्य की प्रवृत्ति विशिष्टीकरण एवं स्थानीकरण तथा सांस्कृतिक पुनरुस्थान के जरिए स्वातंत्र्योत्तर परिस्थिति से पृष्ट होकर उपन्यासों में जाहिर होने लगी है।

2.2 आँचलिक साहित्य की विशेषताएँ

स्वातंत्र्योत्तर काल के हिन्दी साहित्य को दो दृष्टियों से अहम माना जाता है। एक ओर हिन्दी साहित्य अनुभव की प्रामाणिकता पर आवाज़ उठा रहा था और दूसरी ओर देश के अवाम की जिन्दगी दर्ज कर रहा था। भारत के उपेक्षित और दुर्लक्षित अंचलों की ओर लेखकों का ध्यान जाना अनुभव की प्रामाणिकता तथा अवाम के जिन्दगी को दर्ज करना, दोनों जायज़ था। आँचलिक साहित्य में इन दोनों तथ्यों का संगम हुआ है। यह स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य का एक नया प्रयोग एवं महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

हिन्दी में आँचलिक साहित्य की शुरुआत फणीश्वर नाथ रेणु के उपन्यास मैला आंचल (1954) के प्रकाशन से हुई है। आँचलिकता की ओर नई दृष्टि से देखने का प्रयास तब से शुरु हुआ। रेणु के वजह से हिन्दी साहित्य को नई दिशा तथा गति प्राप्त हुई और अछूते विषय को स्थान प्राप्त हुआ। रेणु ने मैला आंचल की भूमिका में लिखा है - "यह है 'मैला आँचल' एक आंचलिक उपन्यास... मैंने इसके एक हिस्से के गांव को पिछडे गाँवों का प्रतीक मानकर, इस उपन्यास का कथा क्षेत्र बनाया है।"[1] स्पष्ट है कि रेणु ने पिछडे गाँव, उसके खेत-खलिहानों,

---

1. फणीश्वरनाथ रेणु - मैला आंचल की भूमिका - पृ. 2

लोकगीतों, जलवायु, भाषा के विशिष्ट रूप, मुहावरों, लोकोक्तियों, लोकसंस्कृति और प्रकृति के सुन्दर दृश्यों आदि को आंचलिकता की स्थायी पहचान के रूप में स्वीकार किया है।

आँचलिक साहित्य की अहमियत यह है कि वह अनुभवहीन, सामान्य, या विराट के पीछे न दौडकर अनुभव की सीमा में आनेवाले अंचल विशेष को कथा का क्षेत्र बनाया है। आँचलिक रचनाकार उन अंचल विशेष के जीवन के बीच जीता है। इस विश्वास के साथ कि वहाँ के पात्रों, वहाँ की समस्याओं, सम्बन्धों, प्राकृतिक और सामाजिक परिवेश, परम्पराओं और प्रगतियों को दर्ज कर सकता है क्योंकि उसने उन्हें अनुभव से अनुभूति में उतारा है। "आँचलिक साहित्य लिखना का मतलब हृदय में किसी प्रदेश की कसमसाती हुई जीवनानुभूति को वाणी देने का अनिवार्य प्रयास है। आंचलिक साहित्य में अंचल अपनी सम्पूर्ण विविधता एवं समग्रता के साथ नायक होता है। अंचल के जीवन की सारी परम्पराओं, ऐतिहासिक प्रगतियों, शक्तियों, अशक्तियों, छवियों, अछवियों को जितनी ही अधिक सच्चाई से लेखक पकड़ सकेगा, अंचल जीवन के अंकन में वह उतना ही सफल होगा। 'आँचलिक उपन्यासों में राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक जीवन-सम्बन्धों को दिखाने के लिए कथाकार प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में वैविध्य होता है किन्तु ऐसा नहीं कि जीवन के इन तमाम पहलुओं को किसी इतिहासकार की तरह वह अलग-अलग विवरण पेश करता है। वरन् वह जीवन के उन मूल स्त्रोतों या आधारों को पकड़ता है जिनसे जीवन के तमाम स्वरूप बनते हैं।"[1] इन

---

1. डॉ. रामदरश मिश्र - हिन्दी के आंचलिक उपन्यास - पृ. 5

रचनाकारों का मूल उद्देश्य अपने आँचलिक समाज के लोक सांस्कृतिक तत्वों के प्रस्तुत करना नहीं, जैसा कि ऊपरी दृष्टि से देखने से प्रतीत होता है। प्रत्युत आँचलिक समाज का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करना है जिससे पाठक उनके जीवन की समस्त परिस्थितियों से अवगत हो सकें और किसी न किसी प्रकार सुधार या परिवर्तन के लिए प्रेरणा दे सके।

आँचलिक साहित्य की विशेषताओं को लेकर अनेक विद्वानों ने उन्हें परिभाषाओं में समेटने का प्रयास किया है। एनसैक्लोपीडिया अमेरिकाना में आंचलिक साहित्य की व्याख्या इस प्रकार दिया है कि - "अपने विस्तृत अर्थ में आंचलिकता जब साहित्य के साथ सम्बन्ध जोडती है तब उसके अन्तर्गत वे सारी साहित्यिक गतिविधियाँ आ जाती हैं जो मनुष्य के भाग्य पर परिवेश के निर्माणकारी प्रभाव से स्वीकार करती है। यह एक निश्चित स्थान के भौगोलिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के कारण वहाँ के निवासियों में प्राप्त होनेवाले असामान्य गुणों को प्रामाणिकता से प्रकट करती है।"[1] विवेकीराय के अनुसार "किसी विशेष अंचल के लोक जीवन सहित उसकी आस्था, भाषा, कलारुचि, रूढ़ियाँ, गीत-नृत्य और तमाम-तमाम अतीत-मुखी सांस्कृतिक बुनावटों को कोई कथाकार तरल राग बोध के स्तर पर

---

1. 'The term regional literature applies to a variety of literary works and movements which acknowledge the shaping power of environment on human fortunes and which try to render with exactitude the unique qualities that the geographical and cultural history of a given locality have imparted to the lives of the inhabitants.'
   The Encyclopedia Americana Vol-XVII - P. 572

सोद्देश्य डालता चलता है तो उससे मूल्यवान आँचलिक कथा साहित्य का सृजन होता है।"[1] मधुकर गंगाधर कहते हैं कि "विशिष्ट आंचलिक वातावरण में दिन-प्रतिदिन की सामान्य घटनाओं तथा वर्ग विशेष के प्रतिनिधि पात्रों की जीवन प्रक्रिया के माध्यम से एक खास भौगोलिक संस्कृति का उद्‌घाटन करना आधुनिक आंचलिक साहित्यवाद का उद्देश्य या आग्रह है।"[2] नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "आंचलिक उपन्यास हम उसे कहते हैं जिसमें अपरिचित भूमियों और अज्ञात जातियों के जीवन का वैविध्यपूर्ण चित्रण हो। आँचलिक उपन्यास की सबसे प्रमुख विशेषता अपरिचित और किसी हद तक आदिम जातियों के जीवन चित्रण में पाई जाती है।"[3] आँचलिक उपन्यासों की खासियत को रामदरश मिश्र ने यों अभिव्यक्ति दी है। "उपन्यासों में विशिष्ट भूखंडों की ज्वलंत समस्याएँ उनके पारंपरिक अन्तर्विरोध, जीवन संघर्ष, पारस्परिक बदलाव, नये संबन्ध बोध, मूल्य विघटन आदि को प्रामाणिक संदर्भ में उद्‌घाटित करने का प्रयास किया है।"[4] भीष्म साहनी की राय में अंचलों के जीवन का सुस्पष्ट और प्रामाणिक विवरण देनेवाली रचना ही आँचलिक है - "स्वतंत्रता के कुछ वर्षों बाद कई लेखक आंचलिक रचनाऐं लिखने लगे, विशेष कर उन अंचलों को लेकर जहाँ उनका जन्म हुआ है, ताकि वे उन अंचलों की रीति-रिवाजों, बोलचाल की रीतियों एवं रहन-सहन को प्रामाणिकता एवं सुस्पष्टता के

---

1. डॉ. रामदरश मिश्र - हिन्दी के आंचलिक उपन्यास - पृ. 11
2. आलोचना जनवरी 1966 - पृ. 35
3. सारिका नवम्बर 1961 - पृ. 91
4. रामदरश मिश्र - हिन्दी उपन्यास सौ वर्ष - पृ. 97

साथ प्रस्तुत कर सके।"[1] राजेन्द्र अवस्थी भी विशिष्ट जनपदीय जीवन चित्रण को प्रमुखता देते हैं - "जिस कथाकृति में किसी विशिष्ट जनपद या क्षेत्र के जनजीवन का समग्र चित्रण वहाँ की भाषा, वेशभूषा, धर्म, जीवन, समाज, संस्कृति और आर्थिक तथा राजनैतिक जागरण के प्रश्न-एक साथ उभर कर आऐं, वह 'आँचलिक कृति' होगी।"[2]

आँचलिक साहित्य की विशेषताओं को चाहे किसी भी विद्वान ने किसी भी शैली में परिभाषित की हो परंतु सब बातों का मूल स्वर एक ही है। आँचलिक साहित्य में एक अंचल विशेष का जीवन वैशिष्ट्य, वहाँ के आचार विचार, रीति-रिवाज़, परंपरागत-सामाजिक रूढ़ियाँ, अंधविश्वास नैतिक मान्यताऐं आदि यथावत् से दर्ज किया जाता है। इस वास्तविकता को उभारने के लिए उसी अंचल की भाषा या बोली का यथातथ्य प्रयोग भी वाज़िब है। आंचलिक साहित्य के ज़रिए हिन्दी कथा साहित्य ने जिन्दगी की असलियत के और निकट आ गए तथा उसने समाज की लोक जनता की विवशताओं और असमर्थताओं को अधिक गहराई से पेश भी किया।

आंचलिक साहित्य की शुरुआत ग्रामांचल से हुई है। आगे उसने अपनी निश्चित शिल्पविधि की विकास करके अनेक प्रकार यानी शहरी पृष्ठभूमियों को

---

1. 'In the first few years after independence, some writers turned towards 'reginal' writing - largely the 'regions' of their own birth, so as to present a more authentic and graphic picture of that region, laying stress on the pecularities of custom, mode of speach and way of life. (Modern Hindi short story - 'The progressive element' by Bhishma Sahni - P. 241-242
2. कल्पना अक्तूबर 1972 - पृ. 12

लेकर भी 'आंचलिक रचना' का सृजन होने लगा। आंचलिक साहित्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार इस प्रकार ग्रामांचल से शहर की ओर जाना कुछ विद्वानों को असंगत लगा। उनका हर्ज है कि "नगरों की भी अपनी संस्कृति होती है परन्तु उसमें कृत्रिमता होती है तथा सरलता का अभाव होता है। वह अन्यान्य बाह्य प्रभावों से ग्रस्त होती है। इसके विपरीत आंचलिक संस्कृति अपनि परिस्थितियों का ही परिणाम होती है अतः कृत्रिमता एवं बाह्य प्रभावों से रहित होती है।"[1] आचार्य नंददुलारे वाजपेयी भी शहरी अंचल की बात स्वीकार नहीं करते - "उपन्यास के ऐतिहासिक विकास को देखते हुए और आँचलिक उपन्यास के सीमित और परिभाषिक अर्थ का ध्यान रखते हुए नगर से संबन्धित उपन्यासों को आँचलिक नहीं कहा जा सकता। वह वैचित्र्य, वह स्वच्छन्द व्यवहार, सभ्यता के दोषों से रहित वह आदिम मानव प्रकृति, जो आंचलिक उपन्यासों की केन्द्र-वस्तु है, नागरिक चित्रण में नहीं आ सकती।"[2] यह सत्य है कि जिस एक खास भौगोलिक संस्कृति का उद्घाटन रचनाकार ग्रामांचलिक वातावरण में करता है, वह शहरी जीवन में नहीं मिलती। आँचलिक साहित्य के कार्यक्षेत्र के संबन्ध में सुप्रसिद्ध आंचलिक रचनाकार राजेन्द्र अवस्थी के मत भी विचार कर लेना आवश्यक है - "इधर आँचलिक शब्द से एक नया भ्रम पैदा हो रहा है। कदाचित यह समझा जाने लगा है कि आँचलिक उपन्यास बडी है जो ग्रामीण जीवन पर आधारित हो और वहाँ की संस्कृति का चित्रण करे। इस तरह का विचार निराधार नहीं है। इसी बीच हिन्दी में

---

1. डॉ. आदर्श सक्सेना - हिन्दी के आंचलिक उपन्यास और उनकी शिल्प विधि - पृ. 13
2. सारिका 1961 अक्तूबर - पृ. 25

जो कुछ लिखा गया है उसमें अधिकांश कथाकारों ने ग्रामों को ही अपनी लेखनी से सफल बनाया है। नगरी जीवन को लेकर कुछ छुट-पुट प्रयत्न हुए है पर उनमें विशेष सफलता नहीं मिल पाई। वास्तविकता यह है कि अंचल एक देहात हो सकता है। एक भारी शहर भी, शहर का एक मोहल्ला भी और इन सबसे दूर सघन वनों की उपत्यकाऐं भी।"[1] आँचलिक साहित्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार विविध भू-भागों से परिचित होना है। इस मुकाम पर इस प्रकार का मत साहित्यिक अराजकता को जन्म देगा कि आँचलिक रचना का वस्तु चयन केवल अमुख क्षेत्र से ही हो सकता है। यह आँचलिक रचनाकार की अपनी दृष्टि और रुचि पर छोड़ा जाना चाहिए कि वह सामग्री कहाँ से चुने। यह उसकी विषय के साथ आत्मीयता और लेखकीय प्रतिबद्धता पर निर्भर करता है कि यह ग्रामांचल को या नागरी अंचल को अभिव्यक्ति दे।

आँचलिक साहित्य की गति एक दिशा में नहीं बल्कि चारों दिशाओं में होती है। अंचल की विविधता को रूप देने के लिए इसमें अनेक पात्रों की ज़रूरत रहती हैं। इनमें से कोई भी पात्र एक दूसरे पर निर्मित नहीं होता। वे सब अंचल से बने हुए है। इन उपादानों को लेखक कहीं इधर से और उधर से चुनता है जो मिलकर अंचल की समग्रता का निर्माण करते हैं। इस उद्देश्य को न समझ पाने की वजह से लोगों को कथानक का, पात्रों का तथा सांस्कृतिक पक्षों का बिखराव दिखता है - "ये वास्तव में आपस में बिखरे नहीं होते इनमें एक अन्तःसूत्रता होती

---

1. सारिका अक्तूबर 1969 - पृ. 28

है। ये अपना अलग-अलग पूरा अस्तित्व रखते हुए भी अंचल जीवन के उस पक्ष के चितेरे होते हैं जो अन्य से छूट गया होता है। ये उन अन्यों में जुड़कर व्यापक जीवन की एक कडी बन जाते हैं।"[1] आंचलिक साहित्य की बुनावट में बिखराव इसलिए नज़र आती है कि हमारी निगाहें इससे पहले ऐसे शिल्प की अभ्यासी नहीं रही थीं।

आंचलिक साहित्य को पिकनीकी दृष्टि से किसी स्थान की बाहरी लहलहाहट बटोरनेवाली प्रयत्नों तथा भौगोलिक दृष्टि से किसी भूमि का सर्वेक्षण करनेवाले प्रयत्नों से भी अलग देखना चाहिए। 'आँचलिक साहित्य किसी अंचल विशेष की प्राकृतिक पार्श्वभूमि में संपूर्ण गतिशीलता एवं लोकचेतना से लैस है। यह साहित्य में आये स्थिरता और गतिहीनता को तोडने की कोशिश है।'[2]

2.3 आँचलिकता, स्थानीयता एवं ग्रामीणता

आँचलिकता का अर्थ बहुत से लोग स्थानीय रंगत या ग्रामीणता से लगाते हैं। आँचलिक साहित्य की विधायक प्रवृत्तियों का स्पष्ट ज्ञान न होने की वजह से ही ऐसी गलतफहमी उत्पन्न होती है। स्थानीय रंग तथा ग्रामीण संस्पर्श की बानगी दिखाकर दो चार लोकगीतों या लोकनृत्य का रंगारंग वर्णन कर देने से कोई रचना आँचलिक नहीं हो जाती। आँचलिक होने के लिए उस रचना में संपूर्ण अंचल अपनी समग्र सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक खासियत के ज़रिए दर्ज होना जरूरी है।

---

1. संपा. रामदरश मिश्र - हिन्दी के आँचलिक उपन्यास - पृ. 6
2. संपा. रामदरश मिश्र - हिन्दी के आंचलिक उपन्यास - पृ. 5

साहित्य में प्रायः स्थानीय रंग होता रहता है। लेखक स्थानीय रंगत देकर सामान्य पात्रों की कथाओं को घटित करते चलते हैं। उनकी कथाऐं एक स्थान से दूसरे स्थान में भटकती फिरती हैं। यानी कथा का पट फलक महज एक भूभाग नहीं रह जाता। वह आवश्यकतानुसार इधर से उधर जाता है - "किसी भी कथात्मक रचना में जब कथावस्तु की पृष्ठभूमि के विषय में भरपूर सूचना दी जाती है और वहाँ के वातावरण का निर्देशन स्थानगत भौगोलिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों की समष्टि के समन्वय के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तब उसे स्थानीय रंगत देना कहते हैं।"[1] स्थानीय रंग साहित्य में कथा के मूल तत्व के रूप में नहीं, वरन् सजावट के रूप में प्रयुक्त है। शिवप्रसाद सिंह के शब्दों में "स्थानीय रंग आंचलिकता नहीं होता क्योंकि आंचलिकता एक प्रवृत्ति होती है और आंचलिक उपन्यासकार किसी विशेष अंचल की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि व्यवस्थाओं एवं परम्पराओं का जन जीवन पर गहरा प्रभाव डालनेवाली ऐसी शक्ति के रूप में वर्णन करता है, जिसमें उसकी एक विशिष्ट जीवन पद्धति मुखर हो उठती है। परन्तु स्थानीय रंग में किसी गांव या शहर या किसी स्थान के रीति-रिवाज, रहन-सहन, बोली, खान-पान आदि की विचित्रता पूर्ण या कृत्रिम विशिष्टता का चित्रण कथा के आधारभूत तत्व के रूप में न करके अलंकरण के रूप में किया जाता है।"[2] रामदरश मिश्र का मत भी कुछ इस प्रकार का है - "आँचलिकता और स्थानीय रंग से उद्देश्य, प्रधानता, परंपरा तथा प्रभाव के कारण पर्याप्त अंतर है। स्थानीय रंग तो प्रायः सभी उपन्यासों में होती है। कथा जिस प्रदेश में बहती है वहाँ

---

1. संपा. ज्ञानचन्द गुप्त - हिन्दी के अंचलिक उपन्यास - पृ. 41
2. कल्पना मार्च 1965 - पृ. 32

की प्रकृति, वेशभूषा, रीतिरिवाज़ की रंगत लेखक उपन्यास में देता चलता है। आँचलिक उपन्यास तो अंचल के समग्र जीवन का उपन्यास है। इसका सम्बन्ध जनपद से होता है। ऐसा नहीं, वह जनपद की ही कथा है।"[1]

आंचलिक साहित्य में स्थानीय रंग अहम होता है। हालाँकि उन सभी रचनाओं को जिनमें स्थानीय रंग हो, उसे आंचलिक नहीं कह सकते। दोनों में उद्देश्य और चित्रण का मौलिक अन्तर होता है। उपन्यास में स्थानीय रंग प्रभावात्मक तथा स्वाभाविकता उत्पन्न करने के लिए होता है। इसका प्रयोग मूलतत्व के रूप में नहीं होकर साज-सज्जा के रूप में होता है।

हिन्दी आलोचकों ने ग्रामीणता और आंचलिकता को एक समझने की भूल को भी सुलझाने की कोशिश की है। अक्सर सम्पूर्ण ग्राम कथा साहित्य को आँचलिक मानने का भ्रम हिन्दी में फैला हुआ है। ग्राम कथा ज्यादा व्यापक भाव-भूमि की वस्तु होती है। ग्राम-जीवन सभी साहित्यों की परिचित वस्तु होता है, जबकि आँचलिकता एक खास प्रकार के विशिष्ट क्षेत्र के जीवन से अपने को सम्पूर्णतः सम्बद्ध कर देती है। उस जीवन को उपेक्षित और अछूता समझ कर उसके समग्र रूप का, छोटी से छोटी विशेषताओं के साथ पुनःप्रस्तुतीकरण आँचलिकता का लक्ष्य होता है - प्रत्येक ग्राम-कथा आँचलिक नहीं होती जबकि प्रत्येक आँचलिक कथा ग्राम कथा हो सकती है।"[2] ग्रामीणता में व्यापकता की प्रधानता है तो आँचलिकता में बारीकी या सूक्ष्मता है।

---

1. डॉ. रामदरश मिश्र - हिन्दी उपन्यास एक अन्तयात्रा - पृ. 188
2. कल्पना मार्च 1965 - पृ. 32

हिन्दी कथा साहित्य के विकास को गौर से देखा जाय तो स्थानीय रंगत, ग्रामीणता तथा आंचलिकता से लैस रचनाओं की एक लम्बी परंपरा ढूँढ़ निकाल सकते हैं। हर प्रत्येक रचना के विधायक तत्व को स्पष्टता से समझना उस रचना के प्रति न्याय देना है। सिर्फ ग्रामीणता या स्थानीय रंग की प्रधानता आँचलिक साहित्य के दायरे में नहीं आती।

2.4 आँचलिक साहित्य के तत्व

आँचलिक साहित्य के विश्लेषण के सिलसिले में आलोचकों ने इसके विभिन्न तत्वों का उल्लेख किया है। वे इस प्रकार हैं :

2.4.1 अंचल की भौगोलिक स्थिति का अंकन

आँचलिक साहित्य का आधार किसी विशिष्ट भूभाग या अंचल है। भू-विशिष्टता के बिना आँचलिक रचना की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि अंचलवासियों पर अंचल की भौगोलिक परिवेश का गहरा प्रभाव होता है। आँचलिक जीवन परिवेश से जुटा हुआ है। उसकी मनस्थिति, सामाजिक रीति-नीति, उत्सव, त्योहार, गीत, संघर्ष, रहन-सहन की विधि, आय-व्यय के साधन आदि विभिन्न क्रिया व्यापार उस अंचल परिवेश की उपज होते हैं। आँचलिक साहित्य की सफलता अंचल की प्राकृतिक एवं भौगोलिक स्थितियों के नाना रूपों का अंकन से संभव होता है। अतः भौगोलिक परिवेश की एक-एक धड़कन के स्वर को लेखक दर्ज करते हैं।

2.4.2 अंचल का नायकत्व

आँचलिक साहित्य में पात्र समाज के प्रतिनिधि होंगे मगर असली नायक अंचल होता है। अंचल की विविधता को रूप देने के लिए अनेक पात्रों की ज़रूरत रहती है। परिवेश की मिट्टी से गढ़े हुए पात्र अंचल विशेष की आवश्यकता का निर्वाह करने आता है और चला जाता है। कोई पात्र आदि से अंत तक ज़रूरी है तो कोई महज कुछ पलों के लिए होता है। लेखक पात्रों के समग्र व्यक्तित्व का आलेखन न कर महज इतना करता है जितना उस अंचल विशेष को उभारने के लिए ज़रूरी है। इन में से कोई भी पात्र एक दूसरे से निर्मित नहीं होता है। वे सब अंचल से निर्मित होते हैं।

2.4.3 अंचल की सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति का अंकन

आँचलिक साहित्य में किसी अंचल को उसकी समग्रता में अध्ययन किया जाता है। अंचल के परिवेश की एक-एक धड़कन के स्वर लेखनी का विषय बनते हैं। अंचलवासियों के रहन-सहन, खान-पान, जातीय भेदभाव, समाज में उत्पन्न नई चेतना, अंचल की राजनीतिक उथल-पुथल, आर्थिक विकास योजनाएँ तथा उसकी सफलता और विफलता का यथातथ्य अंकन ज़रूरी है। आँचलिक साहित्य में अंचल की संस्कृति आत्मा होती है। लेखक अंचल के उत्सव-पर्व, प्रथा, परंपरा, पूजा-पाठ, देवी-देवता संबन्धी मान्यता, लोकगीत, लोककथा, खेल-नृत्य, लोक भाषा, लोकोक्तियाँ आदि का यथार्थ चित्रण करते हैं।

2.4.4 जनजागरण के संकेत

समाज के घातक तत्वों को निर्मूल कर नव निर्माण की प्रेरणा आँचलिक साहित्य का उद्देश्य होता है। आँचलिक रचनाकार अंचल की स्थिति के चित्रण के साथ इन परिस्थितियों के प्रति जनता की प्रतिक्रिया तथा नए विचारों के संपर्क के तहत होनेवाली चेतना का भी वर्णन करता है। अंधविश्वास, सामाजिक अनीति, अत्याचार, भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता, जातीय भेदभाव आदि के विरुद्ध उठी लहर का संकेत करके लेखक अंचल की समग्र चेतना को दर्ज करता है। इस बदलते स्वरूप को, टूटते-बिखरते अंचल को तथा मूल्य संक्रमण को एक नयी चेतना के जरिए दर्ज करना लाजिमी है।

2.4.5 आँचलिक भाषा

आँचलिक साहित्य में जनपदीय भाषा का प्रयोग सर्जना की अनिवार्यता की उपज है। स्थानीय यथार्थ को उकेरते तथा पात्रों के शिक्षा-सभ्यता के स्तर को जाहिर करने के लिए यह अनिवार्य हैं। आँचलिक रचना में पात्र अपनी बोली के जरिए विशिष्ट स्थानीय होने का आभास सहज ही दे सकते हैं। इस भाषा में उनकी आदिम लालसा और प्रेरणाएँ तथा दैनंदिन की ज़रूरतें आदि सहजता से व्यक्त हो जाती है। स्थानीय बोली, मुहावरे, लोकोक्ति, लोकगीत आदि के प्रयोग से लेखक अंचल की वास्तविक रागात्मक तथा भावात्मक पहचान कराई है। आँचलिक साहित्य ने पुरानी तथा निर्जीव पडी हुई लोकभाषा को नई प्राणवत्ता तथा अर्थवत्ता प्रदान की है।

2.4.6 चित्रात्मक शैली

अंचल विशेष को समग्रता में दर्जाने के लिए चित्रात्मक शैली अथवा फोटोग्राफिक शैली समीचीन है। जिस प्रकार फोटोग्राफर किसी दृश्य की तस्वीर खींचता है उसी प्रकार आँचलिक लेखक किसी घटना या दृश्य का तटस्थ वृत्ति से वर्णन करता है। यथातथ्य वर्णन इस शैली का विशेष तत्व रहा है। इसमें बौद्धिकता और सौन्दर्य का एक निश्चित दृष्टिकोण का होना लाजिमी है। चित्रात्मक शैली में बिम्ब, प्रतीत और विविध रंगों की योजना से परिवेश की बाहरी आभा के साथ पात्रों के आन्तरिक उद्वेलन और मानसिक हलचलों का भी ब्यौरा प्रस्तुत होता है।

आँचलिक साहित्य के तत्वों में सामाजिकता और साहित्यिकता का सम्मिलन होता है। उसमें अंचल विशेष की आधारभूमि पर अंचल को नायक बनाकर उसकी समग्र जीवन को दर्शाता है। सामाजिक जीवन, संस्कृति, लोकतत्व आदि के अंकन से आँचलिकता को बल मिलता है।

2.5 आँचलिक साहित्य के प्रकार

आँचलिक साहित्य भारत की अंचलों से जुडा हुआ है। देश की भौगोलिक और प्राकृतिक विभिन्नता के कारण अंचल के भी अनेक भेद होते हैं। प्रत्येक अंचल विशिष्ट स्थान और जनजाती का परिचय देता है। इसलिए स्थान विशेष आँचलिक साहित्य का वर्गीकरण का आधार है। स्थान विशेष के अंतर्गत आँचलिक साहित्य के प्रकारों का विश्लेषण इस प्रकार किया जाता है-

- ग्रामाँचलिक
- पर्वतांचलिक
- नदी आँचलिक
- सागराँचलिक
- नागरी आँचलिक
- जन जातीय आँचलिक

आँचलिक साहित्य के विधायक तत्व के आधार पर भी वर्गीकरण संभव है।

- विशुद्ध आँचलिक
- आंशिक आँचलिक
- आँचलिकता का आभास देनेवाले

वैसे तो आँचलिक साहित्य के वर्गीकरण की विशेष आवश्यकता नहीं है। केवल इसका व्यापक रूप एवं विषय अलगाव को जानने के लिए इस प्रकार का वर्गीकरण आवश्यक हो जाता है।

2.6 आंचलिक साहित्य : एक परिचय

2.6.1 आँचलिक हिन्दी उपन्यास

आँचलिक उपन्यास स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य का एक नये प्रयोग एवं अहम उपलब्धि है जिसके नामकरण एवं प्रारंभ करने का श्रेय फणीश्वर नाथ रेणु और उनके 'मैला आँचल' को है। रेणु ने अपने उपन्यास मैला आंचल की भूमिका में यों लिखा है - "यह है मैला आँचल, एक आँचलिक उपन्यास।"

साहित्य में कोई भी प्रवृत्ति आकस्मात जन्म नहीं लेती। उसकी झलक पूर्ववर्ति साहित्य में नज़र आती है। डॉ. प्रताप नारायण ठंडन आँचलिक उपन्यास की शुरुआत आचार्य शिवपूजन सहाय की कृति 'देहाति दुनिया' (1925) से मानते हैं। डॉ. सत्यपाल चुघ ये सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की कृति 'बिल्लेसुर बकरिहा' (1925) से मानते हैं। 'देहाती दुनिया' में भोजपुर अंचल को तथा 'बिल्लेसुर बकरिहा' में अवध अंचल को, वहाँ के खास सामाजिक जीवन, उसकी रूढ़ियों-विकृतियों और संकीर्णताओं के साथ दर्ज किया है। जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी की 'बसन्त मालती' हरिऔध की 'अधखिला फूल', गोपाल राम गहमरी की 'भोजपुरी ठगी', वृजनन्दन सहाय की रचना 'अरण्यबाला' आदि पुराने उपन्यासों में भी आलोचकों ने आँचलिकता को खोजना का प्रयत्न किया है।

रेणु के 'मैला आँचल' ने हिन्दी उपन्यास जगत में एक नया आयाम जोड़ा और भारतीय जीवन को अधिक प्रामाणिकता के साथ दर्ज किया। फणीश्वर नाथ 'रेणु' को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ आँचलिक उपन्यासकार माना जाता है। पहला उपन्यास 'मैला आँचल' ही रेणु की ख्याति का आधार है। इसमें बिहार के पूर्णिया जिले के मेरीगंज को कथा का केन्द्र बनाया गया है। इस उपन्यास में पूरा अंचल ही नायक बन गया है। रेणु का दूसरा उपन्यास (1957) 'परति परिकथा' में पूर्णिया जिले के ही परानपूर ग्रामांचल की कथा को केन्द्र में रखा गया है। इसमें रेणु ने आज़ादी के बाद के गाँवों में टूटते-बिखरते सामंती अवशेषों तथा उनके बीच से उभरते नवीन जनवादी मूल्यों को स्वर देने का प्रयत्न किया है। इस उपन्यास में रेणु कथ्य और शिल्प दोनों स्तरों पर मैला आंचल से एक कदम आगे बढ़े हैं। 1979

में प्रकाशित उपन्यास 'पल्टूबाबू रोड' में पुनः कथाकार अपने पूर्णिया अंचल से जुड़ता है। इतना अवश्य है कि परिवर्तित स्थितियों के अनुरूप आँचलिकता की नई ज़मीन को इसमें परखा गया है।

नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में मिथिला अंचल को केन्द्र में रखकर वहाँ के विविध जीवन संदर्भों तथा सामाजिक समस्याओं को उकेरा है। 'बलचनमा' (1952) में युवा पीढ़ी के क्रान्तिकारी चेतना को दर्शाया गया है। बमपाटी के युवक तिरहुतिया बाह्मणों की प्राचीन विवाह-प्रथा को तोड़कर नये प्रकार के विवाह का सुधारवादी रूप प्रस्तुत करते हैं। 'बाबा बटेसरनाथ' में वे मिथिला के किसान और ज़मींदार के संघर्ष को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में दर्शाया हैं, जिस में कथावाचक की भूमिका एक पुराना बरगद निभाता है। 'वरुण के बेटे' मछुवारों की जिन्दगी को अभिव्यक्ति देनेवाला हिन्दी का पहला उपन्यास है। उनके 'दुखमोचन' और 'रतीनाथ की चाची' भी आँचलिकता की दृष्टि से अहम रचनाएँ है। नागार्जुन के 'बलचनमा' और फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आँचल' के प्रकाशन के बाद आँचलिक उपन्यास पर नये सिरे से सोचने की प्रभावपूर्ण प्रक्रिया की शुरुआत हुई।

देवेन्द्र सत्यार्थी ने 'ब्रह्मपुत्र' में ब्रह्मपुत्र नदी के तटवासियों के जीवन संघर्ष को उनकी समस्त आँचलिक विशेषताओं के साथ साकार कर दिया है। उदयशंकर भट्ट के 'सागर लहरें और मनुष्य' में बम्बई के समीपवर्ती बरसोवा गाँव के मछुवारों की जीवनगाथा लिखी गई है। रंगेय राघव के 'कब तक पुकारूँ' में राजस्थान के नटों का जीवन चित्रित है। उनके 'धरती मेरा घर' में राजस्थानी

लोहपीटों की जीवनगाथा प्रस्तुत है। लेखक ने पूरी सहानुभूति के साथ इन पिछड़े हुए जीवन को सामने लाने की कोशिश की है। राजेन्द्र अवस्थी ने 'सूरज किरन की छाँव' तथा 'जंगल के फूल' दोनों उपन्यास बस्तर के गोंडों के जीवन को लेकर लिखे गए हैं। लेखक ने उपन्यासों में गोंड जाति के बस्तर के जीवन, वहाँ की संस्कृति तथा रीति-रिवाज़ का हूबहू वर्णन किया है। अवस्थी ने 'जाने कितने आखें में' बुन्देलखण्ड के एक गाँव वीजा डॉडी की कहानी के जरिए गाँवों की जातिगत संकीर्णता की ओर इशारा किया है। बलभद्र ठाकुर ने हिमालय के लोक जीवन को केन्द्र में रखकर कई उपन्यास लिखे हैं। उनके उपन्यासों में 'मुकावली', 'नेपाल की बेटी', 'देवताओं के देश में', 'घने और बने', 'लहरों की छाती पर' में क्रमशः मणिपूर, नेपाल, कुलू और आन्दमान निकोबार के निवासियों का जीवन दर्ज है। ठाकुर ने उपर्युक्त अंचलों को नज़दीक से देखकर अनुभव के आधार पर लिखा है।

रामदरश मिश्र के दोनों उपन्यास 'पानी के प्राचीर' और 'जल टूटता हुआ' पूर्वी उत्तर प्रदेश के गोरखपुर देवरिया जिले के दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र के जन-जीवन पर आधारित हैं। इनमें स्वाधीनता प्राप्ति के बाद के बदलते हुए ग्रामीण असलियत को दर्ज करने का प्रयास हुआ है - "सतीश सोच रहा है इस जवार का जीवन भी तो जल ही है, लेकिन पहले एक था। अब तो नये-नये बाँध बाँध रहे हैं उस जल के किनारे.... ये बाँध भी पोख्ता नहीं हैं। जगह-जगह से दरक जाते हैं। ....और ये पानी कहीं मिल नहीं पाते, विपरीत या समानान्तर धाराओं में बहते ही चले जाते हैं। हाँ टूट रहा है यहाँ जल टूट रहा है।"[1] आज के ग्रामांचलिक यथार्थ को लेखक

---

1. रामदरश मिश्र - जल टूटता हुआ - पृ. 381

ने इसमें बखूबी वर्णन किया है। केशवप्रसाद मिश्र के 'कोहबर की शर्त' में बलिया जिले के दो गाँवों बलिहार और चौबेपूर को केन्द्र में रखा गया है। यमुनादत्त वैष्णव के 'शैल वधु' में कुमायूँ अंचल के जीवन को उकेरा गया है। राही मासूम रजा के 'आधा गाँव' में पूर्वी उत्तर प्रदेश के गाजीपूर जिले के गंगोली गाँव उभर कर आया है। यहाँ की शीया मुसलमानों की जिन्दगी का चित्रण करनेवाला यह उपन्यास सशक्त एवं जीवन्त है।

शिवप्रसाद सिंह के 'अलग-अलग वैतरणी' में पूर्वी उत्तर प्रदेश के करैता गाँव को आधार बनाया है। इस उपन्यास में आजादी के बाद के दो दशकों की उस हालत को प्रस्तुत किया है जिसमें सारे गाँव का स्वरूप ही बदल गया है। मायानन्द मिश्र के 'माटी के लोग सोने की मैया' में काशी के उदहाघाट के उत्थान-पतन से जुडी मछुआ टोली की दास्तान है। मछुआ टोली की गरीबी, अशिक्षा, जड़ता, संकीर्णता और दैनिक जीवन-संघर्ष से गुज़रते हुए अन्त में सरकारी प्रयत्नों के तहत गाँव का काया पलट हो जाता है। उपन्यास का अन्त कुछ अविश्वसनीय प्रतीत होता है।

श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' एक बडे नगर के निकट बसे हुए शिवपालगंज नामक गाँव की जिन्दगी का दस्तावेज है। शहर से लगे हुए शिवपालगंज कस्बा का चित्रण लेखक ने बडी कुशलता से किया है - "उपन्यास में एक ही बात खटकती है। लेखक ने घटनाओं, स्थितियों, पात्रों पर ऐसे कोण से व्यंग्य किया, कि लगता है कि इसमें कहीं भी उसकी (लेखक) निजी भागीदारी नहीं है। इसलिए यह

पाठक को उत्तेजित नहीं करता।"[1] हिमांशु जोशी ने पहाडी गाँवों की दयनीय स्थिति का अंकन 'कगार की आग' में किया है। इसमें अल्मोड़ा जिले के लघौन गाँव को केन्द्र बनाया है। उपन्यास की पात्र गोमती की विवशता सारी स्त्रियों की विवशता है।

विवेकी राय गाजीपुर जिले के आस पास के गाँव के जीवन से बहुत गहरे से जुडे हैं। गाजीपूर के ग्रामांचल को केन्द्र में रखकर लिखा गया 'लोकऋण' में वे अनुभव करते हैं कि गाँव बेचैन है। उसका सांस्कृतिक ह्रास अवश्य हुआ है, लेकिन कई स्तरों पर गाँव जगा है। लोकऋण में लेखक का स्वर आशावादी है। 'सोनामाटी' गाजीपूर और बलिया के बीच लगभग चालीस-पचास किलोमीटर के वृत्त में फैले हुए करहल क्षेत्र के जीवन को केन्द्र में रखकर लिखा गया उपन्यास है। इसमें विवेकीराय का आशावाद कुछ डिगता हुआ नज़र आता है। 'समरशेष' में विवेकीराय ने कथ्य और शिल्प दोनों स्तरों पर अपनी रचनाशक्ति का परिचय दिया है।

शैलेश मटियानी के पाँच उपन्यास 'चिट्टी रसैन', 'चौथी मुट्ठी', 'हौलदार', 'मुख सरोवर के हंस' और 'एक मूठ सरसों' उन्हें पर्वतीय आंचलिकता के श्रेष्ठ अंचलिक कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। इनमें 'मिट्टी रसैन', 'हौलदार', अलमोड़ा के पहाड़ी अंचल के जनजीवन को उकेरते हैं। श्याम परमार के 'मोरझाल' में मालवा के आदिवासी भीलों और योगेन्द्र सिन्हा के 'वन के मन' में सिंह भूमि के 'हो' जनजाति के जीवन को दर्शाया गया है। मधुकर गंगाधर के 'मोतियोंवाले हाथ' में पटना नगर के समीप जसवन्तनगर कॉलोनी में रहनेवाले विस्थापितों को

---

1. डॉ. रामचन्द्र तिवारी - हिन्दी उपन्यास - पृ. 131

केन्द्र में रखकर उनके दुख दर्द का चित्रण किया गया है। 'फिर से कहो' में सोनारी गाँव तथा 'सुबह होने तक' में कोसी अंचल को आवाज़ मिली है। रामदेव शुक्ल के 'ग्रामदेवता' तथा 'विकल्प' ग्रामांचल के परिप्रेक्ष्य में स्वातंत्र्योत्तर बदलते हुए ग्रामीण जीवन को उकेरता है। भगवानदास मोरवाल का 'काला पहाड़' तथा 'बाबल तेरे देश' समकालीन आंचलिक उपन्यास की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। 'काला पहाड़' की कथा हरियाणा के मेवात क्षेत्र के एक गाँव नगीना को केन्द्र में रखकर लिखी गई है। यह समकालीन भारतीय समाज की प्रदूषित मानसिकता को बखूबी दर्शाती है।

आँचलिक उपन्यास सजीव तथा उपन्यासकार समर्थ है। भारत में अब भी अनेक अंचल उपेक्षित और मुख्य जनप्रवाह से कटे हुए हैं। आज भी उन्हें जीवन की छोटी से छोटी सुविधाएँ दुर्लभ हैं। इसलिए आँचलिक उपन्यास के लिए अनेक संभावनाएँ अब भी विद्यमान हैं। ज्यादातर आँचलिक उपन्यासकार अंचल के पिछडे तथा शोषित वर्गों से सहानुभूति रखते हैं। इसलिए वे सर्वहारा के प्रति न्याय तथा उसके उत्थान के प्रयत्नों को ज्वलंत बनाने का प्रयत्न करते हैं। इस वर्ग की पीड़ा लेखक के स्वर में मुखरित होती है। रचनाकार नये-नये अंचलों की खोज कर रहे हैं। उनकी दिशाएँ स्वतंत्र तथा लक्ष्य उदात्त हैं। अतः आँचलिक उपन्यास का भविष्य उज्ज्वल है।

2.6.2 हिन्दी की आँचलिक कहानी

सन् 1950 के आसपास हिन्दी कहानी के क्षेत्र में एक नये आन्दोलन का प्रवर्तन हुआ था। यह आंदोलन अपनी संवेदना, शिल्प और कथ्य के क्षेत्र में

पूर्ववर्ती कहानी से बहुत कुछ भिन्न था। इसलिए इसे 'नई कहानी' कहा गया। आंचलिक हिन्दी कहानी की विकास यात्रा में नई कहानी एक ठोस धरातल बन गयी थी। स्वातंत्र्योत्तर युग के सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं तथा व्यक्ति जीवन की तरह-तरह संघर्षों को नई कहानी ने नज़दीक से देखा और अभिव्यक्त भी किया।

नई कहानी के प्रवर्तकों को तीन वर्गों में बांटा गया है। पहला वर्ग उन कहानीकारों का है जिन्होंने महानगरों के जीवन संबन्धों और बदलते रूपों का चित्रण किया है। दूसरे वर्ग की कहानियों में स्वातंत्र्योत्तर उभर आए कस्बों के जीवन का चित्रण है। तीसरे में स्वातंत्र्योत्तर भारतीय गाँव का चित्रण हुआ है। अतः नयी कहानी के दौर में ग्राम कथा सशक्त रूप से आगे बढ़ रही थी। इस दौर में फणीश्वर नाथ रेणु के उपन्यास मैला आंचल ने (1954) हिन्दी कथा साहित्य को आँचलिकता की ओर आकृष्ट किया। इससे ग्राम कहानी एक कदम आगे बढ़ गई और आंचलिक विशेष पर ध्यान केन्द्रित करने लगी। विवेकी राय की राय में "नयी कहानी वस्तुतः ग्रामजीवन की पुनःप्रतिष्ठा का आन्दोलन था। आरम्भ की अधिकांश जीवन्त कहानियाँ ग्रामजीवन या आँचलिकता से जुडी थीं।"[1] डॉ. बच्चन सिंह के मुताबिक 'यों इस स्वातंत्र्योत्तर दशक में ग्रामांचल की कहानियों ने ही पहले ध्यान आकृष्ट किया।'[2] प्रेमचन्द की कहानियों के बाद कहानी क्षेत्र से बहिष्कृत ग्रामीण किसान-मज़दूर और उनकी समस्याओं को आँचलिक कहानी में एक नया संदर्भ मिला। "....आँचलिक कहानियों में पिछडे हुए इलाकों के जीवन तथा वहाँ के

---

1. डॉ. विवेकीराय - हिन्दी कहानी समस्या और संदर्भ - पृ. 176
2. डॉ. बच्चन सिंह - आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ. 140

क्रिया कलापों का जीवन्त चित्रण प्राप्त होने लगा है। इस कारण से उन कहानियों में धरती की सोंधी गध और क्षेत्रीय जीवन के स्पंदित यथार्थ का अनुभव गहरा है।'[1] हिन्दी के आंचलिक कहानियों में फणीश्वरनाथ रेणु, मार्कण्डेय, राजेन्द्र अवस्थी, शैलेश मटियानी, हिमांशु जोशी, विवेकीराय, रंगेय राघव, शानी, रामदरश मिश्र आदि की कहानियाँ अहम एवं चर्चित हैं।

फणीश्वरनाथ रेणु के कहानी संग्रह 'आदिम रात्रि की महक', 'ठुमरी' एवं 'अगिनखोर' आँचलिक कहानी के संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय हैं। उनकी 'तीसरी कसम' उर्फ मारे गए गुल्फाम' से आंचलिक कहानी की शुरुआत की कहानी मानी जाती है। पूर्णिया के हिरामन और हिराबाई के प्रेम संस्पर्श से आलोकित ग्रामांचलिक जीवन हृदय को छू लेता है। भाषा के स्तर पर रेणु की यह कहानी कई मायनों में अद्‌भुत है। 'विघटन के क्षण' में रंगों का त्योहार होली का चित्रण से रेणु ने ग्रामीण सांस्कृतिक परिवेश को जद्‌दोजगत से दर्ज करने की कोशिश की है। 'रसप्रिया' में रेणु ने परंपरागत कला के प्रति उपेक्षा को अफसोस भरी नज़र से देखा है। 'अतिथि सत्कार' में रेणु ने तोतापुर गाँव के सांस्कृतिक ह्रास का जिक्र किया है। रेणु की कहानियों के संबद्ध में बच्चन सिंह कहते हैं कि "वे आदिम रस-गंधों के कथाकार हैं। गाँव की धूल-माटी, आंगन की धूप, बैलों की घंटियाँ, धान की झूकी हुई बलियाँ गमकता चावल, मेला-ठला, हंसी-ठिठोली आदि के वर्णन में गाँव ही नहीं, पूरा अंचल उभर आता है। इस दृष्टि से 'लाल पान की बेगम' और 'तीसरी कसम' विशेष रूप से द्रष्टव्य है।"[2]

---

1. कल्पना मार्च 1964 - पृ. 29 (शिवप्रसाद सिंह के आंचलिकता और आधुनिक परिवेश)
2. संपा. डॉ. नगेन्द्र - हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ. 731

शिवप्रसाद सिंह के कहानी संग्रहों में 'आर-पार की माला', 'कर्मनाश की हार', 'इन्हें भी इन्तजार हैं' तथा 'मुर्दासराय' उत्तरप्रदेश के ग्रामांचलिक परिवेश एवं संस्कृति के जीवंत दस्तावेज सिद्ध हुए हैं। उन्होंने पूर्वी उत्तर प्रदेश के खास परम्परा को दर्ज करते हुए अपनी आँचलिक कहानी 'एक यात्रा सतह नीचे' का प्रणयन किया है। कहानी के कायर और दुर्बल परम्परानुगामी अब्धु अपनी पत्नी से मिलने को भी झिझकता है। वह पत्नी से काम पिपासा शांत नहीं कर सका। इस पिछडे ग्रामांचल में हवेली के भीतर माँ का अनुशासन और फाटक की मर्यादा है। इन सबके बीच पत्नी की बेबसी कैद है। उनकी कहानी 'इन्हें भी इन्तजार हैं की डोम पुत्री कबरी', 'साँपेरा' का गुलाको चमारन और 'पाप जीवी' का बदलु मुसहर अपने सांस्कृतिक जीवन के सुदृढ़ कवच में गरीबी से संघर्ष करते दिखाई देते हैं। "उनकी 'कर्मनाश की हार', 'कलंकी अवतार' तथा 'मुरदा सराय' में अंचल की धड़कनें गली-सड़ी परम्परा और रूढ़ियों का कचरा ढोती हुई कराह रही हैं।"[1] शैलेश मटियानी की कहानी 'लाही' और 'आवरण' कुर्मांचल की डोम जाति की जिन्दा दस्तावेज है। उन्होंने 'काला कौआ' में पहाड़ी गाँव की मोहक मानसिक छवि को भाई-बहन के पवित्र प्रेम के परिप्रेक्ष्य में उतारा है। विशुद्ध आंचलिक परिवेश की सृष्टि करने में मटियानी जी सिद्धहस्त हैं। उनकी अन्य आँचलिक कहानियों में 'कठफोडवा', 'वीर खम्भा भस्मासुर', 'कालिका', 'अवतार', 'पोस्टमैन' और 'हरकू हौलदार' आदि हैं। 'मेरी तैंतीस कहानियाँ' मटियानी जी की आँचलिक कहानियों का प्रतिनिधि संकलन है, जिसमें पहाड़ी ग्रामजीवन को सफलता से दर्ज किया है।

---

1. डॉ. पशुपतिनाथ उपाध्याय - समकालीन हिन्दी कहानी : दशा और दिशा - पृ. 65

पहाड़ी और आदिवासी जंगली, खासकर बस्तर के आदिवासी अंचल की जिन्दगी की पकड़ कथाकार राजेन्द्र अवस्थी में निखर पर मिलती है। उनका कहानी संग्रह 'एक प्यास पहेली' आंचलिक कहानियों की ज्वलंत मिसाल है। उनकी 'लालझंडा' कहानी में पहाड़ी अंचल का चित्रण है जबकि 'डगरपोल' में बस्तर के आदिवासियों के सीधा-सादा जीवन को उकेरा गया है। उनकी 'कौए के पीछे बैलगाड़ी' तथा 'एक प्यास पहेली' कहानियाँ आँचलिकता से लैंस है। आँचलिक कहानीकारों में रामदरश मिश्र की भी अहम भूमिका है। गोरखपूर जनपद के शप्ती-कछार से जुडी कहानियाँ आँचलिकता को उकेरने में पूर्ण रूप से सफल हुई हैं। उनकी कहानी 'खण्डहर की आवाज़' 'धर्मयुग', 'माँ', 'सन्नाटा', 'बजता हुआ रेडियो', 'खाली घर', 'मंगल यात्रा', 'एक औरत एक जिन्दगी' तथा 'एक और यात्रा' आदि कहानियाँ ग्रामांचल का प्रतिनिधित्व करती हैं। डॉ. विवेकीराय ने उनकी कहानियों पर यों लिखा है - "रामदरश मिश्र में सघन आधुनिक संवेदनाएँ हैं, जिन्हें उन्होंने ग्रामांचल की भावभूमि पर परखा है। सप्ती आँचल में इस कथाकार ने आधे दर्जन कहानियों में जिन गाँठों को देखा है, वे एक जीवंत सचाई है। देखने में 'जो है' उसे देखा गया है, उसकी कड़वाहट को झेला गया है और उसकी पीड़ा को भोग गयाा है।"[1] जब वे पिछडे ग्रामांचल की ओर जाते हैं तब कथारस अचानक जबरदस्त ज़ोर पकड़ता है।

विवेकी राय की कहानियाँ इतनी सजीव और सरल हैं कि पाठक को मोह लेती हैं और वह पढने के लिए आतुर हो जाता है। उनकी कहानियों की पृष्ठभूमि

---

1. डॉ. विवेकी राय - हिन्दी कहानी : समीक्षा और संदर्भ - पृ. 196

उत्तर प्रदेश के ठेठ ग्रामांचल है। उन्होंने 'मरछिया', 'दमरी की खोज में', 'आदमी का पइया', 'बड़ा आदमी', 'भूमिधर', 'सेठ की हजामत' आदि कहानियों में ग्रामांचल के ज़मींदारी शोषण के विविध आयाम दिखाकर अवाम के प्रति अपनी संवेदनाएँ प्रकट की हैं। विवेकराय की कहानियों में वे परिवेशगत यथार्थ की समझ और पहचान बेहद स्पष्ट है। शानी की ज्यादातर आँचलिक कहानियाँ बस्तर की आदिवासी जीवन से सिक्त हैं। 'छोटे घेरे का विद्रोह' और 'डाली नहीं फुलती' में उनकी आँचलिक कहानियों को संग्रहीत किया गया है। शानी की कहानी लेखन जनजातियों की अकिंचता, पिछडेपन, रूढ़ि, शोषण और उसके विशेष आँचलिक रीति रिवाजों से लैस है। उनकी कहानियों में आदिवासी स्त्रियों का चावल ढोली में कूटना, चाँदनी रात में नृत्य करना, गाना आदि का सुन्दर चित्रण मिलता है।

कुछ कहानियों में छुट्टियों में देखा हुआ अंचल है जिसमें नगर से आया व्यक्ति ग्रामीण परिस्थितियों में जुड़ नहीं पाता है। कतिपयों में अंचल विशेष की भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियाँ पूरी तरह उभर नहीं आयी हैं, तो भी वैचारिक पक्षधरता उनमें ज़रूर मौजूद है। मधुकर की 'सत्ताधारी', मणी मधुकर की 'उजाड़ और अधमरे', रमेश उपाध्याय की 'रामपत ला और ला', यादवेन्द्र शर्मा की चन्द्र, हिमांशु जोशी की 'मनुष्य चिह्न', चित्रा मुद्गल की 'बली', नमिता सिंह की 'जंगल गाथा', धनशदल की 'रहना नहीं देश विराना है', उदय प्रकाश की 'छप्पन तोले का करधन' आदि समकालीन कहानियों में ग्रामाँचलिक जीवन ईमानदारी से दर्ज है। हालाँकि आँचलिकता भाषाई व जातीय क्षेत्र को पार नहीं कर पातीं,

फिर भी वह अपने दायरे में रहते हुए समकालीनता की जडें पकड़ सकती हैं। समकालीन आँचलिक कहानी समय की माँग की पूर्ति करने में सक्षम हैं।

3. मार्कण्डेय

स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य में अनेक रचनाकार उभरकर सामने आए हैं। उन्होंने हिन्दी कथा साहित्य को समृद्ध भी किया है। उन उभरते हुए लेखकों में से एक खास नाम मार्कण्डेय का है। वे स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य में अंचल की लोकसंस्कृति, लोकभाषा तथा स्थानीय जीवन स्थितियों को दर्ज करने में माहिर रचनाकार हैं। मार्कण्डेय का सर्जनात्मक व्यक्तित्व बहुआयामी है। वे आंचलिक कहानिकार के रूप में ज़्यादा प्रसिद्ध हैं, हालाँकि उन्होंने उपन्यास, एकांकी, कविता, आलोचना जैसी विधाओं में भी अपनी प्रतिभा का अनूठा परिचय दिया है।

किसी भी रचनाकार के व्यक्तित्व का अध्ययन उनकी कृतियों को समझने के लिए निश्चय ही सहायक सिद्ध होता है। रचनात्मक संवेदना रचनाशील मानसिकता की उपज होती है। साहित्यकार के जीवन बोध उसके पारिवारिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवेश, विचारधारा एवं जीवन दर्शन से बनता है। अतः किसी भी रचनाकार के साहित्य को परखने के लिए उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व की तह तक जाना ज़रूरी है।

3.1 मार्कण्डेय का व्यक्तित्व

3.1.1 जन्म

मार्कण्डेयजी का जन्म उत्तर प्रदेश के जौनपूर जिले की कराकत तहसील के बराई गाँव में 2 मई सन् 1930 को एक साधारण किसान परिवार में हुआ।

3.1.2 माता-पिता

मार्कण्डेय के पिता तालुकदार सिंह प्रतापगढ़ में अपने एक संबन्धी की रियासत की देखभाल करते थे। वे विशाल व्यक्तित्व के धनी और उदार मन के आदमी थे। वे अंधविश्वास एवं रूढियों के विरोधी तथा तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक गतिविधियों से जुडे थे। मार्कण्डेय पर अपने बाबा का गहरा प्रभाव पड़ा था। आगे चलकर शोषित एवं पीड़ित आवाम के हिमायत में जिस विचारधारा को मार्कण्डेय ने अपनी रचना का आधार बनाया था, उसका बीज उनके मन में अपने बाबा के प्रभाव की वजह से पड़ा था। बाबा हमेशा अवाम की मदद के लिए तत्पर थे। मार्कण्डेय ने लिखा है "जिनके अपार प्रेम और उदारता की छत्रछाया में गाँव, पडोस के हजारों लोगों को राहत पाते देखता था.... वे दूसरों के लिए ही जीते थे। लोगों के दुःख-दर्द, लोगों की समस्याओं का विस्तृत परिचय मुझे पास बैठे-बैठे मिलता रहता था।"[1] माता मोहरादेवी सहृदय तथा धर्म परायण औरत थीं। वे अपने आसपास के गरीब तथा दुखियों की मदद करती थी। जब वह दुल्हन बनकर आयी थी तब घर की चौखट नहीं लांघ सकती थी। ऐसे माहौल में भी अपनी बखरी के

---

1. कलम अंक-12 दिसंबर 1985 - पृ. 108

पीछे एक झोपड़ी में रहनेवाली असहाय दुखना को रात में चुपके से खुद खाना पहुँचाती थी। "बाद में उस दुखना को आधार बनाकर मार्कण्डेय ने प्रसिद्ध कहानी 'महुए का पेड़' लिखी।"[1] इस प्रकार असहाय और गरीबों के प्रति प्रेम एवं उदारता का भाव मार्कण्डेय को अपनी माँ और बाबा से बचपन में ही मिला था।

3.1.3 बचपन

मार्कण्डेय अपने माता-पिता का पहला पुत्र थे। उनका बचपन माँ और बाबा के लाड प्यार में बीता था। शोषितों के दुःख दर्द ही नहीं गुलामी की पीड़ा का एहसास उन्हें बचपन में ही हो चुका था। उनके बाबा के सहयोग से गाँव में सुरजियों की सभायें होते थीं। बालक मार्कण्डेय बाबा के कंधों पर बैठकर सुराजियों की सभा में जाते थे। इस प्रकार उन्हें बचपन से ही सामाजिक गतिविधियों को निकटता से देखने का मौका मिला। बचपन की ऐसी परिस्थिति ही आगे चलकर उनके लिए जनवादी विचारों के आकर्षण की वजह बनी। उनके बचपन में ही बाबा की मृत्यु हुई। उस समय की अपनी मनस्थिति को उन्होंने यों जाहिर किया है - "मेरे लिए तो एक विरानगी का आलम ही छोड गए बाबा। भीतर जैसे सूना हो गया, राह विहीन सूना जिसे तोड़ पाना एक छोटे से बच्चे के लिए पूरी तरह असंभव था।"[2] बाबा की मृत्यु ने बालक मार्कण्डेय को दुख में डुबो दिया। इस घटना के बाद उनमें एक प्रकार की गंभीरता आ गई।

---

1. सुरेश प्रसाद - मार्कण्डेय का रचना संसार - पृ. 14
2. कल्पक अंक 12 दिसंबर 1985 - पृ. 108

3.1.4 शिक्षा

प्रत्येक रचनाकार के व्यक्तित्व पर जीवनानुभवों के साथ शैक्षिक वातावरण का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। यही प्रभाव उसके साहित्यिक जीवन की प्रेरणा का अहम अंग होता है। मार्कण्डेय की शख्सियत उससे भिन्न नहीं है। उनकी प्राथमिक शिक्षा की शुरुआत बराई की पाठशाला में हुई। मूलचंद नामक अध्यापक के मार्गदर्शन में उन्होंने चौथी कक्षा तक वहाँ पढ़ाई की। पाँचवीं में उर्दू मीडिल करने के लिए उन्हें जैनपूर के गाँव बेहडा जाना पड़ा। वहाँ उनका परिचय एक मौलवी से हुआ जो एक देशभक्त और स्वाधीनता के पक्षपाती थे। मार्कण्डेय पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा था। इस काल में वे अपने बाबा के दिए गए झंडे को ड़ंडे में लगाकर बच्चों के साथ जुलुस निकालते, प्रभात फेरियों में जाते थे। इसी बीच चरखा, सूत खद्दर तथा गाँधी साहित्य से उनका परिचय हुआ।

आगे की शिक्षा के लिए उन्होंने प्रतापगढ़ के प्रदापबहादूर इंटर कालेज में दाखिला ले लिया। वे वहाँ के हॉस्टल में रुककर पढ़ाई करते थे। हॉस्टल की जिन्दगी मार्कण्डेय को घुटन सा लगा। कॉलेज का प्रशासन अंग्रेज भक्तों का था। वहाँ स्वाधीनता तथा गाँधी, नेहरु जैसे देशभक्तों का नाम भी लेना मना था। ऐसी हालत में पराधीनता की पीड़ा उनके मन में गहरी बन गई। इस विपरीत परिस्थिति में भी वे कांग्रेस की राजनीति से संपर्क बनाते रहे। प्रदापगढ़ में वे छह वर्षों तक रहे। यह उनकी जिन्दगी का निर्णायक समय था। वहीं उनकी मुलाकात आचार्य नरेन्द्र देव से हुई जो उच्चकोटि के समाजवादी नेता एवं देशभक्त थे। आचार्य नरेन्द्र

देव की सभा ने मार्कण्डेय के जिन्दगी को नया मोड दिया। उनके भीतर का विद्यार्थी सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यकर्ता बन गया। इस दौरान उन्होंने मार्क्सवाद की पुस्तकों और राजनीतिक विचारधाराओं का गहन अध्ययन किया। मार्क्सवाद ने उनकी जीवन दृष्टि को काफी हद तक प्रभावित किया। उस समय कांग्रेस के प्रति युवकों का अविश्वास और आक्रोश बढ़ रहा था। इस अवसर पर कांग्रस सोशिलिस्ट पार्टी का जन्म हुआ और मार्कण्डेय उसमें काम करने लगा। वे उन दिनों प्रतापगढ़ में आयोजित किसान आन्दोलन के करीब आये। अवध की ताल्लुकदारियों में होनेवाले किसानों के भयावह शोषण ने उनके दिल और दिमाग पर गहरा असर डाला। प्रतापगढ में इंटर मीडिएट की पढ़ाई पूरी करने के साथ वे एक सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में भी सामने आए।

उच्च शिक्षा के लिए वे इलाहाबाद आए। वहाँ के विश्वविद्यालय में उन्होंने हिन्दी में एम.ए. किया। फिर कुछ समय तक उन्होंने 'कबीर के साहित्य में लोकतत्व' विषय पर कार्य करते रहे लेकिन उसे पूरा नहीं कर सके। मार्कण्डेय शिक्षा के समय केवल किताबी ज्ञान के पीछे नहीं दौडा बल्कि तत्कालीन अवाम की जिन्दगी से जुडे रहे।

3.1.5 नौकरी

बचपन से ही गरीब किसानों तथा मज़दूरों पर होनेवाले अत्याचारों से अभिज्ञ मार्कण्डेय के मन में नौकरी करके सुखी जिन्दगी जीने की रुची नहीं थी। शिक्षा के समय से ही उन्होंने कांग्रेस तथा कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के साथ मिलकर

राजनीतिक तथा सामाजिक कार्यों में रुचि दिखाई। आगे वे जनसेवा का मार्ग अपनाना चाहते थे। लेकिन पार्टी में मतभेद हो जाने की वजह से उस से अलग हो गए। सन् 1960 में उन्होंने इलाहाबाद में रेडियो की नौकरी ले ली थी लेकिन कुछ ही दिनों में उनका तबादला लखनऊ में कर दिया गया। राजनीति की वजह से उनका तबादला हुआ था। इसलिए उन्होंने नौकरी से इस्तीफा दे दिया। नौकरी और आराम जिन्दगी से मार्कण्डेय का उतना लगाव नहीं था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हिन्दी साहित्य में एम.ए. किये मार्कण्डेय जैसे शख्सियत के लिए साठ के दशक में नौकरी हासिल करना कठिन नहीं था। "मार्कण्डेय की शर्तें विचित्र थीं। ...कोई नौकरी-चाकरी नहीं करेंगे। प्रगतिशील आन्दोलन में रहेंगे और स्वलम्बन के लिए पुस्तक प्रकाशन व्यवसाय करते हुए जनपक्षधर कथा साहित्य की रचना करेंगे।"[1] उसके बाद मार्कण्डेय ने कहीं भी नौकरी नहीं की पर स्वतंत्र रूप से लगातार लेखन कार्य में जुट गए।

3.1.6 परिवार

मार्कण्डेय जी का विवाह सन् 1948 में विद्याजी के साथ हुआ। उनकी पत्नी शालीन और सुसंस्कृत गृहणी है। वे मार्कण्डेय के अंत तक मार्कण्डेय के साथ परछाई की तरह उनका साथ देती रहीं। उन्हें जीवन में लगातार आर्थिक मुश्किल का सामना करना पड़ा। हालाँकि घर-गृहस्थी तथा बच्चों की उच्चशिक्षा आदि जिम्मेदारियों को उन्होंने बखुबी निभाया है। उनकी दो बेटियाँ स्वास्ति सिंह, शय्या सिंह तथा एक बेटा सौमित्र सिंह है। आजकल ये सभी उच्च पदों पर कार्यरत हैं।

---

1. अमरकान्त - कुछ यादें कुछ बातें : एक प्रतिबद्ध खानदर्शी - पृ. 78

3.1.7 व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू

मार्कण्डेय का बाह्य व्यक्तित्व बेहद आकर्षक था। करीब छह फीट का ऊँचा कद, दुबला पतला शरीर, गौरा रंग, क्लीन शेव्ड चेहरा, ऊँचा मस्तक, मस्तक पर दिखाई देनेवाले सफेद बाल देखनेवालों को मुग्ध कर देते थे। उनका रहन सहन बिल्कुल सादा था। खद्दर का कुर्ता। उस पर वैसे ही जैकेट, पतलून और साधारण चपलों पहना पसंद करते थे। रहन-सहन की सहजता और साफ सुथरापन मार्कण्डेय के व्यक्तित्व की खासियतें हैं। उनके भारी शख्सियत के संबद्ध में अमरकांत लिखते हैं "कुरुचि और गंदगी से उसको घृणा है। हर काम को वह अत्यधिक सफाई और स्टाइल से करना पसंद करता है। कल्फ और फ्रीज से फिट लंबा रेशमी कुर्ता तथा सलीमशाही जूते या गाँधी आश्रम की चप्पलें पहनकर पान चबाते हुए तथा अपने सिर को सारस की तरह गर्व से उठाये हुए जब वह बाहर निकलता था, तो मेरे मन में किसी सुसंस्कृत रोमांटिक नायक की कल्पना उभरती थी।"[1] मार्कण्डेय का परिवार सामंती होने के बावजूद उनका व्यक्तित्व सामंती अहंकार और घमंड से अछूता रहा। मार्कण्डेय जिन्दगी के प्रति आसक्त थे और उसे सही तरह से जीना चाहते थे। यही वजह है कि उन्होंने मोपेड़ खरीद ली तो बेहद एकाग्रता से चलाते थे। रविन्द्र कालिया जी याद करते हैं - "वे मोपेड को इतनी होशियारी, तन्मयता और एकाग्रता से चलाते थे कि लगता था, मोपेड नहीं, कोई विमान चला रहे हों। मोपेड पर सवार होने के पूर्व वह पान की पीक थूक कर कुल्ला कर लेते थे कि कहीं ड्राइविंग करते करते पान का आनन्द न उठाने लगें

---

1. संपा. संतोष चतुर्वेदी - परम्परा और विकास - पृ. 14

और दुर्घटना हो जाये।"[1] इस प्रकार मार्कण्डेय का व्यक्तित्व सरल रहा है। सचमुच बाह्य दृष्टि से कोमल व्यक्तित्व के धनी मार्कण्डेय का आंतरिक व्यक्तित्व बेहद गंभीर था।

3.1.7.1 निर्भिकता एवं विद्रोहात्मकता

मार्कण्डेय जी के व्यक्तित्व का यह अहम पहलू है। उन्होंने अपनी युवावस्था मं ही निर्भिकता का परिचय दिया है। मार्कण्डेय जब प्रताप बहादूर कॉलेज में पढ़ रहे थे तब कॉलेज का प्रशासनिक अंग्रेज भक्त थे - "अंग्रेज़ भक्त होने के कारण प्रतापगढवालों के इस कॉलेज में बडी सख्ती थी और मजाल नहीं कि कोई गाँधी की जय बोल दे, ऐसा करने पर दंडित किया जाता था।"[2] लेकिन इस बात का कोई असर मार्कण्डेय पर नहीं पड़ सका। इस व्यवस्था का विरोध करते हुए कालोज की बगलवाली संडक से गुज़रे पं जवाहरलाल नेहरु जी का स्वागत करने वे चले थे। मार्कण्डेय अन्याय और दमन के सामने कभी सर नहीं झुकाते थे।

3.1.7.2 ग्रामीण जीवन के प्रति लगाव

मार्कण्डेय गाँव में पले - बढ़े व्यक्ति थे। गाँव के प्रति उनको खास लगाव रहा है। जहाँ भी हो उनके मन में गाँव की याद आता रहता है, इसके बारे में अमरकांत ने यों लिखा है "फिर पूछताछ के बीच से किसी अनजाने सूत्र को पकड़कर वह अनिवार्य रूप से अपने गाँव और परिवार के बारे में इस तरह किस्से

---

1. संपा. संतोष चतुर्वेदी - मार्कण्डेय - परम्परा और विकास - पृ. 43
2. सं. विद्या भास्कर - अमृत प्रभात - वार्षिक मार्कण्डेय - मेरी कथा यात्रा - पृ. 24

सुनाने लगेगा कि हँसते-हँसते हम लोट पोट हो जाते हैं। गाँव के लोगों से उसको जितना आत्मीय अनुभव है उतना कम ही लोगों को होगा। एक-एक व्यक्ति का खाका उतारकर रख देता है। उन लोगों की बातें करते समय उसके स्वर में संगीत बहता है।''[1]

3.1.7.3 प्रतिबद्धता

प्रतिबद्धता मार्कण्डेय के जीवन का स्थायी भाव रहा है। वे बचपन से अवाम पर होनेवाले अत्याचारों को देखकर बडे हुए थे। इसलिए वे शैक्षिक समय से ही लेकर समाजसेवा में कार्यरत थे। शोषितों की प्रगति के लिए वे अपनी जिन्दगी में समाजसेवा का मार्ग अपनाना चाहते थे। इसलिए वे एम.ए करने के बाद नौकरी न करके राजनीति में सक्रिय रहे। राजनीति से अलग होने पर जिन्दगी भर साहित्य के द्वारा समाजसेवा करते रहे। उनके साहित्य का धुरी हमेशा शोषित और पीडित अवाम की जिन्दगी रही है।

3.1.8 मृत्यु

मार्कण्डेय की तबीयत बीच-बीच में बनते और बिगडते रहे। फिर भी उनके चेहरे पर थकाव, पीड़ा और नैराश्य का नामोनिशान तक दिखाई नहीं देते थे। 1996 में उनको दिल का दौरा पडा और उन्हें बाइपास ऑपरेशन करना पड़ा। सन् 2007 में उन्हें गले में कैंसर की पीड़ा भुगतनी पड़ी। 2010 में बीमारी के बुरी

---

1. सं. संतोष चतुर्वेदी - मार्कण्डेय परम्परा और विकास - पृ. 16

तरह बिगडने के दौरान भी उनकी जिजीविषा मिटी नहीं थी। पर 18 मार्च 2010 को दिल्ली के राजीव गाँधी कैंसर इन्स्टीट्यूट में उन्होंने अपनी अंतिम सांस ली।

3.2 मार्कण्डेय का कृतित्व

मार्कण्डेय स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर है। उन्होंने कहानी, उपन्यास, नाटक, काव्य, आलोचना आदि विधाओं में अपनी रचनाशीलता का परिचय दिया है। हालाँकि उन्होंने आँचलिक कहानीकार के रूप में ज्यादा ख्याति पाई है फिर भी उन्हें प्रेमचंद परंपरा का एक समर्थ उत्तराधिकारी कहा जा सकता है। प्रेमचंद परंपरा को उन्होंने न केवल अपनाया है बल्कि उसे संपन्नता भी प्रदान की है।

मार्कण्डेय की दृष्टि में असली साहित्य वही है जो सामाजिक जीवन से जुड़ा हुआ है। उनके अनुसार "जनता का जीवन ही वह धरातल है जहाँ लेखक अपने अनुभव संघटित करता है और सामान्य जीवन की भाव भूमि पर ही उसकी संवेदनाएँ निर्मित होती हैं। जो लेखक जितनी ही गहराई से इन बदलती हुई भावभूमियों को पकड़ पाता है वह उतनी ही तीव्रता से जीवन की संवेदनाओं को संचित कर अपने अनुभव से वृद्धि करता जाता है।"[1] मार्कण्डेय से सुप्त साहित्यकार भी जीवन अनुभवों से उगा है। उनके शब्दों में "प्राइमरी पास करने के बाद ही मुझे प्रतापगढ़ का एक रिश्तेदार के यहाँ जाना पड़ा... यहाँ मेरे जीवन की सारी

---

1. मार्कण्डेय - हंसा जाई अकेला कहानी संग्रह की भूमिका - पृ. 9

मान्यताओं को भारी धक्का लगा और मुझे दो वर्गों के अन्तर्विरोधों का साक्षात दर्शन हुआ। गरीब लोगों पर बेइन्तहा अत्याचार और अन्याय की लोमहर्शक घटनाएँ मुझे रात-भर सोने नहीं देती थीं। मनुष्य-मनुष्य के बीच अन्तर की ऐसी निर्मम स्थिति से अवगत होकर मेरी जीवन सम्बन्धी सारी पूर्व मान्यताएँ खण्ड खण्ड हो गयीं। मेरे लिए कहानी लिखने की बात यहीं से उठी।"[1] जैनेन्द्र, शरत जोशी यशपाल तथा प्रेमचंद से उन्हें लिखने की प्रेरणा मिली हैं - "यशपाल की रचनाओं ने मेरे मनो संसार में जो हलचल पैदा की थी उससे एक स्पष्ट आधार मिल गया। संयोग से इन्हीं दिनों प्रेमचंद को पढ़ रहा था। जैसे-जैसे प्रेमचंद को पढ़ता गया वैसे-वैसे मुझे अपने लिए कार्य शुरु करने का स्थान मिलता गया। मेरे भाव जगत में तुलसीदास, निराला और पन्त की कविताएँ भरी हुई थीं। मैं आज निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि इस सारी परम्परा के भीतर से ही मेरे मन में लिखने की आकांक्षा पैदा हुई।"[2] भारतीय ग्रामांचलिक जीवन के नए-नए पक्षों को खोज कर प्रेमचंद परंपरा को आगे बढ़ाने में मार्कण्डेय के योगदान के पीछे यही परंपरा कार्यरत है।

3.2.1 मार्कण्डेय का कहानी साहित्य

पानफूल (1954) : पानफूल मार्कण्डेय की पहला कहानी संग्रह है। इस संग्रह में बारह कहानियाँ हैं। जो क्रमशः 'गुलरा के बाबा', 'बाँसती की माँ', 'नीम की टहनी', 'सवरइया', 'पानफूल', 'घुरा', 'रेखाएँ', 'रामलाल', 'संगीत आँसू और इंसान',

---

1. सं. विद्या भास्कर - अमृत प्रभात वार्षिक (मार्कण्डेय - मेरी कथा यात्रा - पृ. 25)
2. सं. विद्या भास्कर - अमृत प्रभात - पृ. 26

'मुंशीजी', 'सात बच्चों की माँ' और 'कहानी के लिए नारी पात्र चाहिए' हैं। इस संग्रह की पहली कहानी 'गुलरा के बाबा' गाँव के एक आदर्शवादी आदमी की दास्तान है। 'बाँसती की माँ' नारी शोषण पर केन्द्रित कहानी है। 'नीम की टहनी' में भारत के पूर्वांचलों में व्याप्त अंधविश्वासों को उकेरा गया है। मालिक के प्रति एक बैल की आत्मीयता को 'सबरइया' दर्ज करती है। 'घूरा', 'रामलाल' और 'सात बच्चों की माँ' भी नारी शोषण के विविध आयामों को चित्रित करती हैं। 'रेखाएँ' शहरी स्त्रियों की दबी हुई मानसिकता का दस्तावेज़ है। संग्रह की अंतिम 'कहानी के लिए नारी पात्र चाहिए' में मार्कण्डेय ने मध्यवर्गीय संकुचित मानसिकता पर व्यंग्य किया है। 'पानफूल' संग्रह की कहानियों के जरिए मार्कण्डेय ने स्वातंत्र्योत्तर बदलते ग्रामीण परिवेश में व्याप्त विसंगतियों तथा विद्रूपताओं को उजागर कर दिया है।

महुए का पेड़ (1955) : महुए का पेड़ मार्कण्डेय का दूसरा कहानी संग्रह है। इस में दस कहानियाँ संग्रहित है - 'जूते', 'एक दिन की डायरी', 'नौ सौ रुपये और एक ऊँट दाना', 'साबुन', 'मिस शांता', 'महुए का पेड़', 'मन के मोड़', 'हरामी के बच्चे', 'मिट्टी का घोड़ा', 'अगली कहानी'। 'महुए का पेड़' प्रस्तुत संग्रह की शीर्षक रचना है। इसमें मार्कण्डेय ने माँ से सुनी हुई कहानी को आधार बनाया है। 'महुए के पेड़' में असहाय सुखना की जिन्दगी के ज़रिए लेखक ने ठाकुरों की हुकुमशाही और स्वार्थता को दर्शाया है। मधुरेश लिखते हैं "झोंपडी के सामने खड़ा महुए का पेड़ दुखना के लिए अपने अस्तित्व की एक ज़रूरी शर्त बन जाता है।"[1]

---

1. मधुरेश - नई कहानी पुनर्विचार - पृ. 162

'जूते' कहानी में गाँव के एक गरीब बच्चे की जूतों खरीदने की ख्वाहिश को दर्ज किया है। विवाह संबन्धी समस्याओं की ओर इशारा करनेवाली कहानी है 'एक दिन की डायरी'। 'नौ रुपये और एक ऊँट दाना' संग्रह की एक सशक्त कहानी है। इस में स्वातंत्र्योत्तर विकृत राजनीति की वजह से टूटती ग्रामीण आर्थिक स्थिति का जिक्र है। 'हरामी के बच्चे' और 'मिट्टी का घोड़ा' वर्ग वैषम्य की अभिव्यक्ति करती है। 'अगली कहानी' ने भारतीय समाज के बदलते मानवीय मूल्यों तथा सामाजिक संबन्धों की एक झाँकी प्रस्तुत की है। विवेकी राय के अनुसार "'अगली कहानी' में कथाकार ने भविष्य की कहानी की ओर संकेत किया है और जीवन से सहज संपर्क की माँग की है। संक्रमण कालीन मनःस्थितियों का अंकन इसकी विशिष्टता है।"[1]

हंसा जाई अकेला (1957) : 'हंसा जाई अकेला' मार्कण्डेय का तीसरा कहानी संग्रह है। एक ग्रामांचलिक कथाकार के रूप में मार्कण्डेय को इस से खास उपलब्धि मिली है। 'कल्याणमन', 'सोहगइला', 'दौने की पतियाँ', 'बातचीत', 'हंसा जाई अकेला', 'चाँद का टुकड़ा' तथा 'प्रलय और मनुष्य' इसमें संग्रहित कहानियाँ है। संग्रह की प्रथम कहानी 'कल्यानमन' समाज के ठाकुरशाही के विरुद्ध संघर्ष करनेवाली औरत की जिन्दगी को शब्दबद्ध किया है। 'सोहगइला' कहानी ग्राम जीवन की परंपरागत रूढ़ मान्यताओं और रीतिरिवाजों का उद्‌घाटन करती है। 'दौने की पत्तियाँ' स्वातंत्र्योत्तर भारत में व्याप्त भ्रष्टाचार तथा घूसखोरी की समस्या

---

1. विवेकी राय - स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम जीवन - पृ. 164

पर पहल करती है। मार्कण्डेय की पैनी निगाह अंचल की हर बस्ती और हर सिवान से वाफिक है। 'बातचीत' कहानी के ज़रिए उन्होंने ग्रामांचलिक जीवन यथार्थ का हूबहू वर्णन किया है। 'हंसा जाई अकेला' में स्वातंत्र्योत्तर विषम सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों के चलते अवाम की मोहभंग की नियती को उकेरा है। मधुरेश लिखते हैं "इस कहानी का महत्व इसलिए है क्योंकि यह सारे परिवेशगत और सामाजिक संदर्भों के बीच आदमी के अकेलेपन की नियति और पीडा को उभारती है।"[1] 'चाँद का टुकड़ा' कहानी में विकास एवं सुविधाओं से वंचित अंचल को दर्शाया गया है। संग्रह की अंतिम कहानी 'प्रलय और मनुष्य' एक फान्टसीपरक कहानी है। इसमें मनुष्य की जिजीविषा की मार्मिक अभिव्यक्ति मिली है।

भूदान (1958) : भूदान में मार्कण्डेय ने ग्रामांचलिक जीवन की आस्थाओं और परंपराओं को अपनी भावनाओं से नया रूप देने का प्रयास किया है। संग्रह में आठ कहानियों को संग्रहित किया है। 'माई', 'आदर्श कुक्कुट गृह', 'धूल का घर', 'भूदान', 'बिंदी', 'शवसाधना', 'उत्तराधिकार'। 'माई' और 'धूल का घर' दोनों कहानियों में माँ की ममता को प्रस्तुत किया है। 'आदर्श कुक्कुट गृह' में कहानीकार ने जाहिर किया है कि किस प्रकार सरकारी विकास योजना के अंतर्गत अवाम की आर्थिक उन्नति और आत्मनिर्भरता के सपने मिट्टी में मिल जाते हैं। 'भूदान' कहानी में भूदान आंदोलन की निरर्थकता को अंकित किया गया है। 'बिन्दी' कहानी नारी जीवन की करुणा गाथा है। 'शव-साधना' ग्रामांचल में फैले अंधविश्वास और

---

1. मधुरेश - नई कहानी पुनर्विचार - पृ. 162

पाखंडी साधु-संन्यासियों की असलियत को उजागर करती है। उत्तराधिकार एक लंबी कहानी है जिसमें ज़मींदारों के विलासितापूर्ण जीवन और शोषितों की छटपटाहट को चित्रित किया है। 'दाना भूसा' कहानी में तो एक ग्रामीण परिवार की अभावग्रस्त हालत को प्रस्तुत किया गया है।

माही (1962) : 'माही' कहानी संग्रह में मार्कण्डेय ग्रामीण परिवेश से हटकर शहरी जीवन से जुडे हैं। "इस में ग्राम कथाकार आधुनिक नगर बोध और सेक्स पीड़ा को अंकित करने में प्रवृत्त हुआ है। इस संग्रह की समुची कहानियाँ नगर जीवन से संबद्ध है और विषय वस्तु के साथ शिल्प की दृष्टि से भी वह नवीनता उभरती है।"[1] निम्नमध्यवर्गीय परिवार के आर्थिक संघर्ष को मार्कण्डेय ने 'दूध और दवा' में दर्ज किया है। इस कहानी के अलावा बाकी सभी कहानियाँ प्रेम और यौन के विभिन्न पहलुओं पर आधारित हैं। 'माही' में मार्कण्डेय ने मध्यवर्गीय स्त्री जीवन के प्रेम की समस्या को उजागर किया है। 'सूर्या' और 'तारों का गुच्छा' के केन्द्र में प्रेम और काम वासना से पीडित मध्यवर्गीय औरत को रखा गया है। 'पक्षाघात' कहानी पति-पत्नी संबन्ध के बीच के नवीन आग्रहों का प्रतिपादन करती है।

सहज और सुख : मार्कण्डेय ने इस कहानी संग्रह के जरिए फिर से आंचलिक कहानिकार की पहचान को बनाये रखे हैं। इसमें 'धुन', 'आदमी की दुम', 'आखें', 'मधुपुर के सिवान का एक कोना', 'सहज और शुभ', 'कानी घोडी' और 'एक ओर काला दायरा' शीर्षक से कुल सात कहानियाँ संकलित हैं। 'धुन' एक अच्छी सामाजिक कहानी है। कहानी में किसानों की आर्थिक विषमता के साथ उन लोगों

---

1. डॉ. विवेकी राय - स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्रामजीवन - पृ. 165

की मानसिक जड़ता को भी अंकित किया है। 'कानी घोडी' कहानी गाँव के व्यापारी वर्ग की अमानवीय शोषण प्रवृत्ति को स्पष्ट करती है। 'एक काला दायरा' और 'मधुपुर के सिवान के एक कोना' गाँव के सामंती वर्ग गरीब मज़दूरों पर जो अन्याय एवं अत्याचार बरसाते हैं उन्हें सामने लाती हैं। 'सहज और शुभ' कहानी में लेखक ने बूढ़ी रमीला के चरित्र का अंकन मानवीय धरातल पर संवेदनात्मकता से किया है।

बीच के लोग (1975) : 'बीच के लोग' मार्कण्डेय की कहानियों का सातवाँ संकलन है। संग्रह में छह कहानियाँ संकलित हैं जो ग्रामीण तथा शहरी दोनों परिवेशों से जुडी हैं। कहानी का नाम इस प्रकार है - 'लंगड़ा दरवाज़ा', 'बादलों का टुकड़ा', 'बीच के लोग', 'बयान', 'गनेसी' और 'प्रिय सैनी'। 'बादलों का टुकड़ा' महाजन के कर्ज से दबे भूमिहीन मज़दूरों के त्रासद जीवन की दास्तान है। 'बीच के लोग' मार्कण्डेय की एक सफल कहानी है, जिसमें उन्होंने गाँव के विकास में बाधा डालनेवाली शक्तियों का पर्दाफाश किया है। पूँजीवादी समाज में कला के व्यवसायीकरण की समस्या को 'प्रिय सैनी' उजागर करती है। 'बयान' और 'गनेसी' नामक कहानियाँ मनुष्य की आंतरिक मनोवृत्ति तथा परंपरागत रूढ़ नैतिक मूल्यों की टकराहट को अंकित करती हैं। प्रस्तुत कहानी संग्रह के संबद्ध में मधुरेश का अभिमत कुछ इस प्रकार है कि "इन कहानियों में गरीबी, अभाव और भूख की यातना झेलते लोग हैं, आज भी महाजन का कर्ज है और उसके कारिंदे की बोली चिबोली भी, बच्चे के इलाज की सामर्थ्य के अभाव में धार तपावन और डिहबाबा (ग्रामीण देवताओं) के मनौती (अंधश्रद्धाएँ) की ललक भी है।"[1]

---

1. मधुरेश - सिलसिला - पृ. 55-56

हलयोग (2012) : 'हलयोग' में कुल बीस कहानियाँ हैं। इसकी ज्वादातर कहानियाँ 1948 से 1958 के बीच लिखी गई हैं। ये प्रारम्भिक कहानियाँ उनकी कहानी लिखने का प्रयास का प्रमाण हैं। फिर भी इसमें मार्कण्डेय की सर्जनात्मक चेतना की हलचलों का पता चलता है। 'हलयोग' कहानी स्वातंत्र्योत्तर भारतीय ग्रामीण समाज के जातिगत द्वेष और उद्वेलन की कथा कहती है। 'ब्रह्मादोष' कहानी 'भविष्य वाचन' का ही अगला भाग लगता है। दोनों कहानियाँ पूर्वांचलवासियों के अंधविश्वासों तथा चलाकियों के आधार पर बुनी गई हैं। 'बोझ भर राख', 'फादर पाल' और 'बवंडर' भी इसी श्रृंखला की कहानियाँ हैं। 'गड़ा हुआ धन' धन की जगह श्रम की अहमियत को स्थापित करती है। 'खुशहाल ठाकूर' तथा 'हल लिए मज़दूर' में आज के दलित विमर्श की प्रारंभिक अनुगूंजें सुन सकती हैं। संग्रह की अंतिम कहानी 'चार दिन' मार्कण्डेय और ओमप्रकाश श्रीवास्तव की सहयोग से लिखी गयी है।

3.2.2 मार्कण्डेय का उपन्यास साहित्य

मार्कण्डेय ने 'सेमल के फूल' और 'अगिनबीज' नामक दो उपन्यास लिखे हैं। इनके ज़रिए एक उपन्यासकार के रूप में उनका लेखकीय व्यक्तित्व जाहिर होता है।

सेमल के फूल (1956) : 'सेमल का फूल' मार्कण्डेय का प्रथम उपन्यास है। अस्सी पृष्ठों के इस लघु उपन्यास में नीलीमा और सुमंगला के प्रेम को अभिव्यक्ति दी गई है। उपन्यास का कथ्य अत्यंत संक्षिप्त है। सुमंगला गाँव के बडे ज़मींदार का बेटा है और नीलिमा समृद्ध सामन्ती परिवार की लड़की है। माँ-बाप की मृत्यु के

बाद नीलिमा अपनी मौसी के यहाँ रहने लगती है। वहीं दोनों का परिचय हो जाता है। दोनों एक दूसरे से प्यार करते हैं। हालाँकि दोनों की शादी नहीं हो पाती दोनों प्यार की पीड़ा में जीता है। इस घुटन की वजह से नीलिमा अपनी पति के प्रति उदास बनती जाती है। घुटन भरी जिन्दगी के अंत में वह मर जाती है।

'सेमल के फूल' की कथा मृत नीलिमा की डायरी में लिखी हुई यादों के रूप में लिखी गई है। उपन्यास में अतीत और वर्तमान ऐसे धुल मिल गये हैं कि वह अविभाज्य रूप में सामने आते हैं। उपन्यास के संबन्ध में नेमीचन्द्र जैन लिखते हैं- "'सेमल के फूल' में भी बड़ी धार है जो उस अनुभूति के साथ लेखक के गहरे तादात्म्य के कारण उत्पन्न हुई है। इसलिए अस्सी पृष्ठों की यह कथा कहीं भी बहुत शिथिल नहीं पड़ती। भावना का एक सा तनाव आदि से अंत तक बना रहता है जो पाठक को एकदम भावाभिभूत कर देता है।"[1] उपन्यास में लेखक अपनी रागात्मक अनुभूति को स्पष्ट करने में सफल रहा है।

अग्निबीज (1981) : 'अग्निबीज' स्वाधीन भारत के ग्रामजीवन का सशक्त खाका करनेवाला बहुचर्चित उपन्यास है। अग्निबीज की भूमिका में मार्कण्डेय लिखते हैं- "अग्निबीज स्वतंत्रता के बाद 53-54 के आस-पास के ग्रामीण संदर्भों में उभरते पात्रों की सामाजिक, राजनीतिक चेतना की विकास यात्रा को रेखांकित करनेवाले कथानक का पहला उपन्यास है।"[2] उपन्यासकार के रूप में मार्कण्डेय की ख्याति मुख्यतः अग्निबीज की वजह से हुई है।

---

1. नेमिचंद्र जैन - बदलते परिप्रेक्ष्य - पृ. 143-144
2. मार्कण्डेय अग्निबीज भूमिका - पृ. 4

मार्कण्डेय ने कथा की बुनावट पूर्वी उत्तर प्रदेश के रामपूर गाँव को लेकर किया है। इसकी केन्द्र में गाँव का एक आश्रम है। गाँधीवादी भाईजी और भागे बहिन इस आश्रम को चलाते हैं। गाँव के स्वतंत्रता सेनानी साधो काका भी आश्रम से जुडे हुए हैं। वे आश्रम के माध्यम से गाँधीजी के आदर्शों का प्रचार करते हैं। गाँव के बिगडे हुए सामाजिक, राजनीतिक वातावरण के बीच श्यामा, सुनीत, सागर और मुराद एक नई रोशनी की तलाश में है। मार्कण्डेय ने इन पात्रों को अपनी आस्था का केन्द्र बनाया है।

3.2.3 मार्कण्डेय का एकांकी साहित्य

पत्थर और परछाइयाँ (1956) : 'पत्तर और परछाइयाँ' मार्कण्डेय का एकमात्र एकांकी संग्रह है। इसमें 'पत्थर और परछाइयाँ', 'चिडिया खाना', 'अंधेरी झाँकी', 'मैं हारूगा नहीं', 'दो पैसे का नमक' और 'रूपक' शीर्षक से छह एकांकी संकलित हैं। 2013 में प्रकाशित इसके दूसरे संस्करण में उनके दो अन्य एकांकी 'डंका बुआ' और 'रसोई घर' को जोडे गये हैं। 'पत्थर और परछाइयाँ' में मार्कण्डेय ने मध्यवर्गीय लोगों की झूठी शान, और दिखावे को प्रभावपूर्ण ढंग से दर्ज किया है। वर्तमान युग के मूल्य विघटन को लेकर 'चिडिया खाना' लिखा है। 'अंधेरी झाँकी' ग्रामीण जीवन के वर्ग वैषम्य पर आधारित है। इसमें मार्कण्डेय ने दबे कुचले लोगों में संगठनात्मक चेतना भराने की कोशिश की है। 'दो पैसे का नमक' में गरीबी, भूख और शोषण के नए आयामों को दर्ज किया है। मार्कण्डेय ने अपने एकांकियों के जरिए प्रगतिशील सोच-समझ का परिचय दिया है। इन एकांकियों में आधुनिक जीवन की अनेक समस्याओं को नए ढंग से पेश करने की कोशिश की गई है।

3.2.4 मार्कण्डेय का कविता साहित्य

सपने तुमारे थे (1960) : मार्कण्डेय ने अपने सृजन की शुरुआत कविताओं के जरिए की है। इस संग्रह की कविताएँ सन् 1952 और 1956 के बीच लिखी गयी हैं। इस में मार्कण्डेय ने अपने आरंभिक जीवन की कुछ यादों को तथा युवमानस की रोमानी भावनाओं को शब्दबद्ध किया है। 'तुम्हारी याद', 'याद का सरसिज', 'मनमुटाव', 'जीवन', 'राह तो चलती रहेगी', 'पथ के रोडे' आदि संकलित कविताएँ हैं। 'तुम्हारी याद' कविता में कवि अपने प्रणय की यादों में डूबकर यों कहता है -

"यह सलोनी चाँदनी, यह हवा, यह अभिसार,
याद मुझको आ गया, खोया हुआ संसार।
ओह कैसा मोड था, कैसा अनोखा प्यार
देख कर जिसको नियति भी मान जाती हार।"[1]

ये पंक्तियाँ युवा मानस की रागात्मक अनुभूतियों को स्पष्ट कर देती हैं। शैली और शिल्प की नज़र से ये कविताएँ उतनी खास नहीं हैं। संकलन की भूमिका में मार्कण्डेय ने उल्लेख किया है "इसे कृति कर्म के एक सहज परिचय के रूप में स्वीकार किया गया तो मुझे विशेष प्रसन्नता होगी।"[2] मार्कण्डेय में कवित्व की प्रौढ़ता नहीं दिखाई देती।

यह पृथ्वी तुम्हें देता हूँ (2013) : इस संग्रह में मार्कण्डेय के पहले काव्य संकलन 'सपने तुम्हारे थे' की कविताओं के साथ उनकी तब तक असंकलित कविताओं को

---

1. मार्कण्डेय - सपने तुम्हारे थे - पृ. 30
2. वही - पृ. 10

भी शामिल किया गया है। इस काव्य संकलन को तीन हिस्से में बाँटा गया है। पहला हिस्सा 'यह पृथ्वी तुम्हें देता हूँ का है जिसमें 1983-87ई. के बीच लिखी गयी कविताएँ हैं। दूसरे हिस्से में 1952 से 1955ई. के बीच की कविताएँ हैं, जो सपने तुम्हारे थे में संकलित नहीं हो पायी थीं। इसमें छोटे गीत भी शामिल हैं। तीसरे हिस्से में 'सपने तुम्हारे थे' संकलन को ज्यों का त्यों रखा है।

मार्कण्डेय में कविता की कला सीखने से ज्यादा चाव कविता में शब्दों को सार्थक उद्देश्य से जोड़ने में था। 'मैं सीख रहा हूँ' कविता की ये पंक्तियाँ देखिए-

"अगर संभव हुआ तो निंहाई ले आऊँगा
हथौडे से पीटूँगा, हँसिया बनाऊँगा
फिर मैं सीखूँगा शब्दों को गर्म करना
नाबदाना और वेश्यालयों में पडे-पडे
वे घिनौने, बदकार और चापलूस हो गये हैं।"[1]

मगर यह सब सीखने में मार्कण्डेय के कवि रूप को कम सफलता मिली है। एक सफल कथाकार मार्कण्डेय की रचनाशीलता से उनकी कविताएँ कतई मेल नहीं खाती हैं।

3.2.5 मार्कण्डेय का आलोचना साहित्य

कहानी की बात (1984) : कहानी की बात मार्कण्डेय की समीक्षात्मक किताब है। इसमें उन्होंने निर्मल वर्मा, शेखर जोशी, अमरकांत, राजेन्द्र यादव, कृष्ण

---

1. मार्कण्डेय - यह पृथ्वी तुम्हें देता हूँ - पृ. 22

सोबती, मोहन राकेश, भीष्मसाहनी, यशपाल, अज्ञेय, भैरवप्रसाद गुप्त, जैनेन्द्र आदि कहानिकारों की कहानियों पर लिखे गए आलोचनात्मक लेख को संकलित किया है। ये लेख 'नयी कहानियाँ' तथा 'माया' पत्रिका में क्रमशः 'जो लिखा जा रहा है' और 'कहानी की बातचीत' नामक स्तंभों में पहले ही प्रकाशित हैं। 'निर्मल वर्मा : अतीत और भविष्य से मुक्त निरे वर्तमान में', 'शेखर जोशी : विद्रोह या विरक्ति की कथा', 'अमरकांत : समय नए सवालों के उठने का', 'राजेन्द्र यादव : सूचनाधर्मी परिवेश में वास्तविकताओं की बुझौवल' आदि इस संग्रह के कुछ लेख हैं। इन लेखों में उनकी समीक्षा दृष्टि की क्षमता का परिचय मिलता है। इसमें मार्कण्डेय ने कहानी को जीवन की कला माना है - "उसके बाह्य और अंतर को बहुत दूर तक झूठलाना भी संभव नहीं है। इसलिए जब हम नए जीवन सत्यों की बात करते हैं और उसे कहानी के संदर्भ में ढूढ़ते हैं तो यथार्थ जीवन के प्रकाश में ही उसका मानदंड भी ढूँढना होगा।"[1] रचनाकार की कृति की आलोचना करते समय मार्कण्डेय उन परिस्थितियों का भी मूल्यांकन करते हैं जो रचनाकार को प्रभावित करती हैं। उनकी नज़र में वही लेखक नया है जो जीवन के बदलते स्वरूप के अनुरूप सजग भौतिक दृष्टि विकसित करने की समझ रखता है।

चक्रधर की साहित्य धारा (2012) : 'चक्रधर की साहित्य धारा' स्वातंत्र्योत्तर दौर की साहित्यिक सक्रियता को समझने का एक दस्तावेज है। 1954 से 1959 तक उन्होंने 'कल्पना' की साहित्यधारा में चक्रधर नाम से स्तम्भ लिखते थे। साहित्य

---

1. मार्कण्डेय - कहानी की बात - पृ. 12

धारा में उनके पैंतीस स्तम्भ मिलते हैं जिन्हें इस पुस्तक में संकलित किया है। मार्कण्डेय ने साहित्य धारा के जरिए हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता को गरिमा एवं गौरव देने की कोशिश की थी। पत्रिकाओं को पाठकों से जोडा तथा उन्हें आन्दोलित भी किया है। इस स्तम्भ में उन्होंने उस समय प्रकाशित विभिन्न पत्रिकाओं की कहानियों, कविताओं, निबंधों तथा चित्र पर समीक्षात्मक टिप्पणियाँ भी लिखी थीं। छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता आदि कई विषयों पर उनके अहम विचार जगह जगर पर इसमें बिखरे पड़े हैं। इन्हें 'चक्रधर की साहित्यधारा' में एक सूत्र में पिरोकर मार्कण्डेय के आलोचना सम्बन्धी विचारों को कायदे से समझाने की कोशिश की गई है। इसमें मार्कण्डेय की आलोचनात्मक नज़र ओर निखर उठी है।

हिन्दी कहानी : यथार्थवादी नज़रिया (2013) : इस संग्रह को तीन हिस्सों में बाँटा गया है। पहला हिस्सा 'नयी कहानी : कुछ बातें' का है, जिसमें नयी कहानी की वैचारिकी और सैद्धान्तिकी को लेकर लिखे गये लेख है। दूसरे हिस्से में 'तीन समीक्षाएँ' हैं जो राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर और अश्क की रचनाओं पर लिखी गई है। तीसरे हिस्से में 'कहानी की बात' संकलन को ज्यों का त्यों रखा है।

मार्कण्डेय ने नयी कहानी के रूपविधान एवं कहानीकारों पर खूब विचार किया है। उन्होंने बदलते परिदृश्य, वस्तु एवं संरचना के स्तर पर रचनाओं की गहरी छानबीन की है। मार्कण्डेय अपनी पुस्तक में आलोचक के महत्व की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि "मात्र आलोचक ही ऐसी कडी है जो इन दो छेरों को आपस में मिलाता है। उसके सामने नई रचना है और जीवन के सत्य हैं। उसके

पीछे प्राचीन रचना का पूरा संस्कार और उसकी उपलब्धियाँ हैं। वह जन रुचि की व्याख्या करके उसे नई सच्चाइयों की समझ के लिए तैयार कर सकता है। वह रचना के सूक्ष्म सूत्रों की व्याख्या करके अत्यन्त वस्तुपरक दृष्टि से जीवन के दृष्टान्तों द्वारा पाठक की समझ के कुहासे को विच्छिन्न कर यथार्थ सामने ला सकता है।"[1] यही बात मार्कण्डेय की समीक्षा दृष्टि पर भी लागू होती है। नयी कहानी के समय में अपने सारे आग्रहों और भटकों के बावजूद मार्कण्डेय ने आलोचना में अपनी वैचारिक क्रांतिकारी चेतना एवं जीवन की वास्तविकताओं को व्यापक संदर्भों में देखने की पक्षधरता रखी है।

3.2.6 संपादन

मार्कण्डेय एक सशक्त साहित्यकार होने के साथ कुशल सम्पादक भी थे। 1965 के समय में वे 'माया' में सम्पादक रहे थे। 'माया' पत्रिका का 'भारत : 1965' विशेषांक उनकी संपादन कुशलता का परिचय देता है। इसके बाद सन् 1970 में उन्होंने 'कथा' पत्रिका के संपादक बने। उनकी संपादन कला के संदर्भ में कथा के संपादन सहयोगी संतोष कुमार चतुर्वेदी ने यों लिखा है "मार्कण्डेय का सम्पादकीय कौशल अपने आप में अनूठा था कि उन्होंने 'कथा' को कभी भी भानुमति का पिटारा नहीं बनने दिया। न केवल विषय सामग्री अपितु कथा की साज सज्जा एवं प्रकाशन को लेकर भी।"[2] शिवकुमार मिश्र की वक्तव्य भी यहाँ

---

1. मार्कण्डेय - कहानी की बात - पृ. 11
2. वसुधा - अंक जुलाई 2011

उल्लेखनीय है - "कथा पत्रिका का संपादन मार्कण्डेय की विशिष्ट उपलब्धि है। कथा के जरिए मार्कण्डेय ने समकालीन साहित्यिक परिदृश्य पर गंभीर विमर्श के लिए मार्ग प्रशस्त किया। अखिल भारतीय स्तर पर चर्चित बहुतेरे रचनाकार 'कथा' पत्रिका की देन हैं। नई रचनाकार के लिए 'कथा' ने वे सारे अवसर दिए जो जरूरी थे। पत्रिका अपने समय की एक विशिष्ट पत्रिका मानी गई, जिसे इस विशिष्टता तक पहूँचाने में मार्कण्डेय ने सभी तरह के साधन जुटाए।"[1]

3.2.7 पुरस्कार

सन् 1954 से शुरु हुई मार्कण्डेय की साहित्यिक जीवन यात्रा सन् 2010 में उनके निधन तक बरकरार रही है। उन्होंने अपने साहित्य के ज़रिए स्वातंत्र्योत्तर ग्रामांचलिक जीवन यथार्थ को बेहद वफादारी के साथ अभिव्यक्त करने की जद्दोजहद की और यों हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाया। उन्हें निम्नलिखित पुरस्कारों से सम्मानित भी किया गया-

1. अब्दुल कलाम आजाद जन सेवा संस्थान की ओर से सम्मान
2. राहुल सम्मान
3. इलाहाबाद न्यु रिपोर्ट क्लब की ओर से सम्मान
4. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा 'साहित्य भूषण' पुरस्कार
5. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा हिन्दी गौरव पुरस्कार

---

1. संपा. संतोष चतुर्वेदी - मार्कण्डेय : परम्परा और विकास - पृ. 313-314

निष्कर्ष

आँचलिकता साहित्य की ऐसी प्रवृत्ति है जिस में किसी अंचल विशेष के संपूर्ण वातावरण का संश्लिष्ट दस्तावेज़ प्राकृतिक पृष्ठभूमि में दर्ज किया जाता है। आँचलिक साहित्यकार पिछड़े हुए अंचलों के उपेक्षित जीवन के प्रश्नों, आकांक्षाओं तथा विषमताओं की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करता है। वे उन आँचलिक जीवन को स्वस्थ बनाने की बीडा उठाते हैं। आँचलिक साहित्य के जरिए हिन्दी कथाकार अवाम की जिन्दगी के और निकट आ गए हैं। मार्कण्डेय ने अपने आँचलिक रचनाओं के जरिए अंचल के उन तमाम घातक तत्वों को निर्मूल कर नव निर्माण की प्रेरणा दी है। उनकी रचनाओं का उद्देश्य गंभीर एवं सामाजिक हैं। भारत में अब भी अनेक अंचल उपेक्षित और आधुनिक ज़िंदगी से कटे हुए हैं, इसलिए आँचलिक साहित्य के लिए अनेक संभावनाएँ विद्यमान हैं। इसकी दिशाएँ स्वतंत्र तथा लक्ष्य उदात्त हैं। ऐसा लगता है कि भविष्य में भी आँचलिक साहित्य और ज्यादा बलवती बनेगी।